आलोचना के प्रगतिशील आयाम

डॉ० शिवकुमार मिश्र

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

पुरोवाक्

पिछले कुछ वर्षों के दौरान हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र मे विचारधारात्मक संघर्ष का जो रूप एकाधिक स्तरों और आयामो पर 'अपनों' और 'दूसरों' के साथ विचारधारा के बुनियादी चरित्र को लेकर उभरता रहा है, इस किताब के निबंध उसी की एक बानगी पेश करते हैं। इन निबंधो मे कुछ लोगों को आक्रामकता भी दिखाई पड सकती है जो विचारधारात्मक टकराव की कतिपय स्थितियों मे स्वाभाविक हो गई है, परन्तु प्रधानतः इनमे आत्मालोचन ही अधिक है, विचारधारा के स्तर पर अपने को पाने, पहचानने और मांजने की कोशिश ही प्रधान है। विचार के स्तर पर फैलने और फैलाए जाने वाले कतिपय ऐसे भ्रमो के निराकरण का प्रयास भी है जिनका सम्बन्ध साहित्य और समीक्षा मे, इतिहास और साहित्येतिहास मे व्यक्तियों, धाराओ, प्रवृत्तियो तथा कालो के सही स्थान-निर्धारण से है, और जिनके चलते मूल्य-निर्णय मे परेशानियाँ, दिक्कतें, गलतियाँ तथा अपराध तक होते रहे हैं। निबंध ऊपर से अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित लगते हुए भी आधारतः अलग-अलग नहीं हैं। साहित्य-समीक्षा तथा साहित्येतिहास उनकी बुनियादी चिन्ता के बीच रहे हैं और विचारधारा का एक बारीक तार सबको एक मे पिरोए हुए है। कुछ निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित भी हो चुके हैं और जरूरी लगा कि प्रकाशित-अप्रकाशित सारे निबंधो को एक किताब के तहत संग्रहीत किया जाय। यह किताब इसी जरूरत का प्रतिफल है। साहित्य-सर्जना, साहित्य-समीक्षा, साहित्येतिहास तथा साहित्य के दीगर पहलुओ से सबंध रखने वाले कतिपय बुनियादी सवालो के कुछ जवाब यदि यदि इन निबंधो के बीच से उभर सके, कम-से-कम उनके जवाब पाने की दिशा मे सोच के स्तर पर कुछ पहल, कुछ बेचैनी, कुछ सुगबुगाहट भी हो सकी तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूंगा। इन निबंधो के बीच से विचारधारा के स्तर पर यदि मैं अपने को उस विचारधारा के तहत पाने और पहचानने मे कुछ भी सफल रहा होऊं तो यह अपने लिए मेरी कुछ प्राप्ति होगी। संप्रति, इतना ही।

शिवकुमार मिश्र

भाई चन्द्रभूषण तिवारी के लिए

निबन्ध क्रम

मार्क्सवादी कला-चिन्तन और साहित्य समीक्षा का विकास

मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण है जिसके अन्तर्गत ज्ञान की समस्त शाखाएं और मानवीय कर्म के सारे आयाम उसकी अन्तर्ग्रथित समग्रता का अंग बनते हुए व्याख्यायित और विश्लेषित होते हैं तथा जो मनुष्य के हित में संसार का तथा समाज की पुनर्रचना में उनका कारगर विनियोग करता है। जहां तक सौन्दर्य और कला-चिन्तन तथा साहित्यिक और कला समीक्षा का प्रश्न है, मार्क्सवाद परंपरागत भाववादी तथा बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आधुनिकतावादी कला-प्रतिमानों तथा रचना दृष्टि का प्रतिकार करता हुआ, ह्रासशील बुर्जुआ सौन्दर्य-शास्त्रीय चिन्तन तथा साहित्य-समीक्षा के बरक्स और उनके विरोध में एक ऐसी सौन्दर्यशास्त्रीय समझ तथा साहित्य-विवेक हमें देता है जो किसी साहित्यिक अथवा कलात्मक कृति के समाज-सापेक्ष सौन्दर्य-परक तथा कलात्मक मूल्य को हमारे समक्ष उसकी संपूर्णता तथा वस्तुनिष्ठता में उद्घाटित करते हुए हमारे साहित्य तथा कला विवेक को मनुष्य की एक समग्र अवधारणा की ओर अर्थात् पूंजीवादी व्यवस्था में खण्डित और आहत मानव अस्मिता के विपरीत एक समग्र तथा सम्पूर्ण मनुष्य की अवधारणा की ओर अग्रसर कर सके।

कहना न होगा कि पूंजीवादी व्यवस्था में खण्डित और क्षत-विक्षत हुई मानव अस्मिता, पहले अपने श्रम से और तदुपरान्त स्वत: अपने से ही अपरिचित और अजनबी होते हुए मनुष्य की पूंजीवादी शोषण तन्त्र से सम्पूर्ण मुक्ति और अपनी खोई हुई अस्मिता को वापस पा सकने की मूलवर्ती चिन्ता से प्रेरित होकर ही मार्क्स कला तथा सौन्दर्य जगत के सवालों की ओर उन्मुख हुए थे और इन सवालों पर विचार करने तथा चिन्तन करने के क्रम में ही कला तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी उनकी वे अवधारणाएं सामने आई, साहित्य तथा कला-समीक्षा की वह दृष्टि तथा वे औजार विकसित हुए जो मिल-जुलकर और परवर्ती मार्क्सवादी विचारकों तथा कलाचिन्तकों के मूल्यवान योगदान से समृद्ध होकर आज एक भरे-पूरे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र, मार्क्सवादी कला चिन्तन अथवा मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र तथा मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा का उत्स मार्क्स की उन अवधारणाओ मे निहित है जो उन्होंने समय समय पर कला, सौन्दर्य तथा साहित्य के सवालो से मानवीय जिन्दगी के लिए अहम दूसरे तमाम सवालो से जूझने के क्रम मे दी और जिन्हे यो तो उनकी समस्त कृतियों मे परन्तु विशेषत प्रारम्भिक कृतियों —'इकोनोमिक एण्ड फिलोसोफिकल मेनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844''ए कन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ पालिटिकल इकोनोमी' तथा 'कैपिटल'मे अपनी समूची अर्थ-व्याप्ति के साथ देखा जा सकता है। स्मरण रहे कि इनमे विचार तथा कर्म के क्षेत्र मे मार्क्स के अनन्य सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स के साहित्य और कला सम्बन्धी वे विचार भी शामिल हैं जो उन्होंने मार्क्स के साथ तथा अपनी स्वतन्त्र कृतियों मे समान प्रखरता के साथ व्यक्त किए हैं। एंगेल्स ने न केवल मार्क्स की दीगर तमाम अवधारणाओ के साथ साहित्य और कला सम्बन्धी अवधारणाओ को भी स्पष्ट किया और व्याख्यायित किया है, अनेक आयामो पर अपने मौलिक चिन्तन से उनमे इजाफा भी किया है। एंगेल्स का नाम वह नाम है जो कार्लमार्क्स और उनके समूचे विचार तथा कर्म के साथ इस तरह एकात्म है कि उसे उनसे अलगाया नही जा सकता।

साहित्य, कला तथा उनकी सौन्दर्यात्मक, ऐतिहासिक और समाज सापेक्ष समझ से सम्बन्धित मार्क्स के जो विचार उनकी कृतियो मे एवं उनके दीगर लेखन मे हमे मिलते हैं, जाहिरा तौर पर वे किसी सुव्यवस्थित क्रम में नही हैं और ना ही साहित्य और कला सम्बन्धी समझ के सारे आयामो का स्पर्श करते हैं। ऐसा इसीलिए है कि मार्क्स साहित्य और कला की मूलवर्ती चिन्ता को लेकर उनके विश्लेषण की गहराइयो मे नही उतरे थे। हम कह चुके हैं कि मानवीय जिन्दगी के दूसरे अहम सवालों पर विचार करते हुए ही वे साहित्य और कला-सम्बन्धी सवालों की ओर आए थे। किन्तु मार्क्स के जो भी विचार इस बारे मे हमे मिलते हैं वे इतने मूल्यवान तथा अपनी सारगर्भिता और अर्थवत्ता मे इतने मुकम्मल तथा सम्भावनापूर्ण हैं कि उनके भीतर से हम साहित्य और कला तथा उनकी मूलवर्ती सौन्दर्यात्मक-ऐतिहासिक तथा सामाजिक समझ के बारे मे एक मुकम्मल सौन्दर्यशास्त्रीय समझ तक पहुंच सकते हैं और परवर्ती विचारको तथा कला चिन्तको ने आधार रूप मे ग्रहण करते हुए उनकी अर्थव्याप्ति तक पहुंचते हुए, उनकी व्याख्या तथा विश्लेषण करते हुए और उन्हें विकसित करते वस्तुतः इस प्रकार के एक भरे-पूरे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र अथवा मार्क्सवादी साहित्य तथा कला दृष्टि का निर्माण भी किया है।

'ए कन्ट्रीब्यूशन टु द क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी' कृति की प्रस्तावना का निम्नलिखित अंश, जिसे मार्क्सवादी साहित्य तथा कलादृष्टि के आधार के रूप मे प्रायः उद्धृत किया जाता है, वस्तुतः वह प्रस्थान बिन्दु है जिसमे न केवल साहित्य

और कला के बारे मे मार्क्सवादी अवधारणा को समझा जा सकता है वरन् जिसकी व्याख्या के क्रम मे साहित्य और कला सम्बन्धी अनेक सवालो के हल की दृष्टि से तथा साहित्य और कला की अपनी सामाजिक अर्थवत्ता तथा मूल्यवत्ता से भी साक्षात्कार होता है। मार्क्स का यह कथन इस प्रकार है—

"सामाजिक जीवन की उत्पादन प्रक्रिया मे मनुष्य ऐसे सुनिश्चित सम्बन्धो की स्थापना करते हैं जो अपरिहार्य है। इन सम्बन्धों का योग अथवा *सम्पूर्णता* ही समाज के आर्थिक धरातल का निर्माण करती है—उसका वह सही आधार बनती है जिस पर एक विधिमूलक तथा राजनीतिक बाह्य संरचना खडी होती है और *सामाजिक चेतना के सुनिश्चित रूप जिसके साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं।* सामान्यत: भौतिक जीवन की उत्पादन विधि ही हमारे सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया को अनुकूलित करती है। मनुष्य की चेतना उसके *अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी* चेतना का निर्धारण करता है। इस क्रम मे कुछ आगे चल कर मार्क्स कहते हैं—समाज के आर्थिक आधार मे परिवर्तन के साथ सम्पूर्ण विशाल बाह्य सरचना भी कमोबेश उसी के साथ रूपान्तरित हो जाती है। इस प्रकार के रूपान्तरो पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक स्थितियो, जिन्हें प्राकृतिक विज्ञान की सूक्ष्मता के साथ निर्धारित किया जा सकता है और विधिमूलक, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक रूपो के बीच, जिनमे मनुष्य इस सघर्ष के प्रति सचेत रहता है और उसमे विजय प्राप्त करना चाहता है, फर्क करना आवश्यक है।"

मार्क्स का यह कथन साहित्य और कला-विषयक मार्क्सवादी दृष्टि को उसके अनेक आयामो मे स्पष्ट करता है। मसलन इसके अन्तर्गत धर्म, दर्शन, राजनीति आदि की ही भाँति साहित्य और कला को विचारधारात्मक बाह्य सरचना का अग स्वीकार किया गया है। दूसरे विचारधारा के अन्य रूपो की ही भाँति साहित्य *और कला को भी समाज के आधार अथवा आर्थिक भौतिक धरातल से अनुकूलित* माना गया है। तीसरे, आर्थिक भौतिक धरातल या आधार मे परिवर्तन के साथ समूची बाह्य सरचना को भी कमाबेश उसी तेजी से रूपान्तरित होते हुए बताया *गया है।* चौथे, *इस बात के प्रति सतर्कता बरतने को कहा गया है कि इस प्रकार* के रूपान्तरो पर विचार करते हुए उत्पादन के आर्थिक ढाँचे तथा राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा कलात्मक रूपो के बीच फर्क किया जाय। पाँचवें, इस *बात को रेखांकित किया गया है कि समाज के अन्तर्गत क्रान्तिकारी चेतना के* विकास मे विचारधारा के विभिन्न रूपो का महत्त्वपूर्ण योग होता है।

मार्क्स की इन बुनियादी स्थापनाओ की सहायता से साहित्य और कला सम्बन्धी जिन महत्त्वपूर्ण मुद्दो को समझा जा सकता है, उनमे साहित्य और कला

का उद्भव, उनका सामाजिक आधार, सामाजिक जीवन के साथ उनका घनिष्ठ अन्तःसम्बन्ध, सामाजिक जीवन के विकास और उसके क्रान्तिकारी रूपान्तरण में उनका योग, साहित्य और कला की प्रयोजनीयता, आर्थिक-भौतिक धरातल से उनके सम्बन्ध, साहित्य और कला की समाज सापेक्ष स्वायत्तता जैसे मुद्दे शामिल हैं।

अन्यत्र भी मार्क्स ने साहित्य और कला के बारे में जो कुछ कहा है वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। मार्क्स के सम्पूर्ण कृतित्व में कला तथा साहित्य के सवालों पर जो चर्चा है उसके बीच से सौन्दर्यशास्त्र तथा कला की तमाम बुनियादी अवधारणाओं के बारे में हमें बड़े स्पष्ट तथा मार्मिक विचार प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, कला और कर्म, सौन्दर्यशास्त्र की प्रकृति, कला का सामाजिक तथा सर्जनात्मक पक्ष, सौन्दर्यानुभव की सामाजिक प्रकृति, कला का वर्गीय उत्स तथा उसकी सापेक्षिक स्वायत्तता, कला तथा समाज का असमान विकास, कला तथा यथार्थ का सम्बन्ध, विचारधारा तथा बोध (Cognition), पूँजीवादी व्यवस्था में भौतिक तथा कलात्मक उत्पादन, कलाकृति का स्थायित्व आदि आदि।[1]

दिक्कत तब होती है जब हम मार्क्स के साहित्य तथा कला सम्बन्धी विचारों को ही सम्पूर्ण और समग्र सौन्दर्यशास्त्र समझकर उसकी बुनियाद पर खड़े होने वाले और उसमें नया योगदान करने वाले परवर्ती चिन्तन को न केवल नजरंदाज करते हैं, एक अत्यन्त कठोरतावादी रुख के तहत उसे गैरमार्क्सवादी तक कहने लगते हैं। बदलती हुई परिस्थितियों में साहित्य और कला के सवालों के नए कोणों का उभरना लाजिमी है और इन नए कोणों से इन सवालों पर विचार करते हुए ऐसे नए निष्कर्षों का आना भी लाजिमी है जो मार्क्स के मूलवर्ती विचारों में इजाफा करें, ऐसी स्थिति में उन्हें तब तक खारिज नहीं किया जा सकता जब तक कि वे मार्क्सवाद की बुनियाद से अलग न हों। चूँकि ऐसा हुआ है, अतएव यहाँ हमने इस कठोरतावादी रुख का उल्लेख किया जो अपने मार्क्सवादी होने का दावा करता हुआ भी गैर-मार्क्सवादी है।

इस दिक्कत के अलावा कुछ दिक्कतें और हैं जो मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की सही और प्रामाणिक अवधारणा के समक्ष सबसे बड़ी बाधा और मार्क्सवाद की बुनियाद पर कला तथा सौन्दर्य के सवालों पर विचार करने वालों के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इनमें से एक जड़वाद है जो मार्क्स और मार्क्सवाद की स्थापनाओं को उनके विकासमान रूप में न लेकर इतने जड़ और यान्त्रिक रूप में लेता है और इसी रूप में कला तथा साहित्य के व्यावहारिक विश्लेषण में उन्हें लागू करता है जिसके चलते न केवल कला तथा साहित्य की कोई सही और सम्पूर्ण

1. आर्ट एण्ड सोसाइटी—सैंकेज वेज क्वेज

समझ हमें प्राप्त नहीं होती है, मार्क्स और मार्क्सवाद की बुनियादी स्थापनाएँ ही विरूप और विकृत हो जाती हैं। इसी के समकक्ष और समानान्तर एक कतई गैर-मार्क्सवादी प्रवृत्ति के रूप में जड़वाद के विरोध के नाम पर उस उदारतावाद या संशोधनवाद के दर्शन हमें होते हैं जहाँ मार्क्स और मार्क्सवाद की आधारभूत मान्यताओं और विचारों को नजरंदाज करते हुए अथवा उन्हें समयानुकूल बनाने और उनमें नई कड़ियाँ जोड़ने की खुशफ्हमी पालते हुए ऐसा रूप दिया जाता है, उनकी ऐसी व्याख्या की जाती है कि उसे मार्क्सवाद की एक-दूसरे प्रकार की विकृति के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसा कि हमने कहा, ऐसा या तो जड़वाद से मार्क्सवाद के उद्धार के नाम पर होता है या फिर एक दूसरे प्रकार के दबाव के तहत होता है। यह दबाव बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्रियों, कला विवेचकों तथा साहित्य-समीक्षकों की तरफ से आता है जिसके तहत मार्क्सवाद और मार्क्सवादी कला चिन्तन को इस प्रकार के कला समीक्षकों द्वारा लगाये गए अधूरेपन, संकीर्णतावाद, गैर-साहित्यिक या गैर-कलात्मक जैसे आरोपों से मुक्त करने के लिए तथा इन समीक्षकों की नजरों में अपने को साहित्य तथा कला की सही समझ रखने वाला साबित करने के लिए उनकी शब्दावली लेते हुए साहित्य या कला की विवेचना की जाती है। हम कह चुके हैं कि मार्क्सवाद की विकृति का यह एक दूसरा आयाम है और जड़वाद की ही तरह कतई गैर मार्क्सवादी है।

हमारे कहने का आशय यह है कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र या साहित्य और कला-सम्बन्धी मार्क्सवादी अवधारणा पर कोई भी बात करने के पहले हमें उन खतरों के प्रति सावधान होना चाहिए जो इस क्रम में हमारे सामने आते हैं। ये खतरे साम्प्रतिक भी नहीं हैं, अपने अब तक के विकास क्रम में कला और साहित्य के प्रति मार्क्सवादी नजरिए ने इन खतरों का और इन शत्रुओं का शुरू से ही सामना किया है और उनके बावजूद और उनसे जूझते हुए ही वह साहित्य और कला विवेचन को, साहित्य की ऐतिहासिक सामाजिक और सौन्दर्यात्मक समझ की एक मुकम्मल दृष्टि बन सका है। यह तथ्य मार्क्सवादी विचार-दर्शन की जीवनता, उसकी विकासशील सर्जनात्मक क्षमता तथा उसकी आधारभूत वैज्ञानिक समझ की पुष्टता का प्रमाण है। इसी के नाते कला तथा साहित्य-संबंधी समझ भी साहित्य और कला-संबंधी दीगर सरणियों की तुलना में सर्वाधिक संगत समग्र और परिपूर्ण बन सकी है।

मार्क्सवादी विचार दर्शन की बुनियाद पर अवस्थित मार्क्सवादी कला चिन्तन भी कोई जड़ अथवा स्थिर वस्तु न होकर एक गतिशील और विकासशील चिन्तन है। उसके समूचे विकास क्रम पर नजर डाली जाय तो तमाम सारे आरोह और

अवरोह के बीच वह न केवल निरंतर विकासशील रहा है, मार्क्स और एंगेल्स के अपने विचारों के आलोक में साहित्य और कला संबंधी सवालों की बारीकियों तथा गहराइयों में भी उतरता रहा है। इसके पहले कि हम मार्क्सवादी कला-चिन्तन तथा साहित्य समीक्षा की कुछ मुख्य स्थापनाओं पर चर्चा करें हम उनके विकास क्रम के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को उभारना चाहेंगे, जिनका संबंध मार्क्स एंगेल्स के समकालीन और उनके परवर्ती देश-विदेश के मार्क्सवादी कला चिन्तकों से है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जर्मनी के सोशल-डेमोक्रैट्स मार्क्सवादी विचार दर्शन तथा कला चिन्तन से मुखातिब होते हुए जिन निष्कर्षों पर पहुंचे, सच पूछा जाय, तो उनमें न केवल मार्क्सवादी विचार दर्शन की एक संकीर्णतावादी समझ सामने आई, मार्क्सवादी कला चिन्तन को भी मार्क्स एंगेल्स की अपनी चिन्ताओं से अलगाते हुए सतही तथा संकीर्ण समझ के साथ पेश किया गया। उदाहरण के लिए कार्ल काल्स्की तथा एडुअर्ड बर्नस्टीन के विचारों को लिया जा सकता है, जिन्हें एडोल्फो सान्केज वाज़क्वेज़ ने ठीक ही दार्शनिक तथा सौन्दर्यशास्त्रीय आधारभूमि से रहित एक ऐसे मार्क्सवाद की संज्ञा दी है जहां मार्क्सवाद केवल एक निरी अर्थशास्त्रीय इयत्ता बनकर रह जाता है। यह मार्क्सवाद नहीं उसका विरूपीकरण है। वाज़क्वेज़ के अनुसार इन सोशल डेमोक्रैट्स का दृष्टिगत दारिद्र्य वहाँ है जहाँ वे मार्क्सवाद को एक क्रांतिकारी दर्शन न मानकर महज एक विशिष्ट सामाजिक अवधारणा मानते हैं। यही नहीं सौन्दर्यशास्त्रीय सवालों को भी मार्क्सवाद के अतर्गत न लेकर उन्हें वे भाववादी दर्शनों के हाथ में अपनी व्याख्या हेतु सौंप देते हैं। यदि वे सौन्दर्यशास्त्रीय सवालों को मार्क्सवाद की परिधि में लाते भी हैं तो यह मानते हुए कि मार्क्सवाद केवल उन अधिक कारकों की ही व्याख्या कर सकता है जो कला को प्रभावित करते हैं। उनसे इतर सौन्दर्यशास्त्र के सवाल मार्क्सवाद की जमीन से हल नहीं होते। यह मार्क्सवाद और मार्क्सवादी कला चिन्तन की नितान्त खंडित और विकृत तस्वीर है जिसे इन सोशल डेमोक्रैट्स ने मार्क्सवाद के नाम पर पेश किया है।[1]

किन्तु लगभग इसी समय अर्थात उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में कुछ ऐसे विचारक भी हमारे सामने आते हैं जो मार्क्सवाद को उसकी सही मानववादी जमीन और क्रांतिकारी दार्शनिक पीठिका से देखने और पेश करने का प्रयास करते हैं। मार्क्सवाद को उसकी सही जमीन से एक समग्र विश्व दृष्टिकोण के रूप में देखने का ही परिणाम है कि ये विचारक

1. आर्ट एण्ड सोसाइटी—सैंचेज वेज क्वेज

सौन्दर्यशास्त्र के बुनियादी सवालों को मार्क्सवाद के आलोक मे देखने और विश्लेषित करने की ओर अग्रसर होते हैं और गोकि इस क्रम मे उनकी अपनी दृष्टिगत सीमाएँ भी सामने आती है और उनका प्रयास एकदम निर्दोष नही रहता, फिर भी, मार्क्सवाद को उसकी समग्रता मे सही नीयत से पहचानने और कला-जगत के सवालो को हल करने मे उससे मदद लेने की उनकी ईमानदार और गंभीर कोशिश के बारे में सन्देह नही किया जा सकता। इन विचारको मे फ्रांस के पाल लफार्ग, जर्मनी के फ्रैन्ज मेहरिंग और रूस के जी० वी० प्लेखानोव का नाम विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है।

लफार्ग का मुख्य प्रयास कला के सामाजिक आधार को स्पष्ट करने की ओर रहा और जैसा कि कहा गया है, यद्यपि बाह्य वास्तविकता को चित्रित करने के कला के अपने विशिष्ट तरीके को वह नही समझ सका, फिर भी कला की वर्गीय तथा सामाजिक पीठिका की उसकी समझ मार्क्स की अपनी व्याख्या के अनुरूप ही है। फ्रैंज मेहरिंग के बारे मे वाज़क्वेज़ का कहना है कि यद्यपि मेहरिंग ने भी कला के वर्गीय आधार की समझ को सफाई तथा सही रूप मे पेश किया है काट की दार्शनिक प्रतिपत्तियो मे से कुछ के मोह को न छोड पाने के नाते उसके चिन्तन मे एक सहज अतर्विरोध भी आ गया है। एक स्तर पर उसका यह मानना कि कला विचारधारात्मक बाह्य सरचना का अग होती है और वर्गीय हितो से अनुकूलित होती है और दूसरे स्तर पर काट की रूपवादी सौन्दर्य शास्त्रीय समझ के बल पर कला को इन वर्गीय हितो से मुक्त दिखलाने का प्रयास एक विलक्षण अंतर्विरोध की सृष्टि करता है।[1]

मार्क्सवादी कला चिन्तन के विकास मे प्लेखानोव का योगदान निश्चय ही असंदिग्ध है। एक ऐसे समय मे जब रूस मे मार्क्सवादी विचारो के प्रवेश को हर संभव उपाय के द्वारा रोका जा रहा था और मार्क्सवाद से लगाव रखने वाले विचारको को आतंक और दमन का शिकार बनाया जा रहा था, हर खतरे से जूझते हुए प्लेखानोव ने मार्क्सवादी विचार दर्शन और कला चिन्तन को अपने अध्ययन का विषय बनाया और अपने देश के लोगो तथा बुद्धिजीवियो के बीच न केवल उन्हें लोकप्रिय बनाया, अपने गभीर चिन्तन के क्रम मे उन्हें सम्पन्न और समृद्ध भी किया। 'इतिहास का अद्वय-वादी दृष्टिकोण', 'बिना पते के पत्र', 'कला और सामाजिक जीवन' उनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ है जिनमे उनके इस मौलिक प्रदेय को देखा जा सकता है। कहा जाता है कि प्लेखानोव का कला चिन्तन मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र मे अनेक नई और मौलिक कड़ियाँ जोड़ते हुए और मार्क्स-एगेल्स के कला साहित्य तथा सौन्दर्य संबंधी विचारो की अतिशय प्रामाणिक व्याख्या करते

1. आर्ट एण्ड सोसाइटी—सैंकेज वेज क्वेज

हुए भी कतिपय विसंगतियों का शिकार हुआ है, कि उसके द्वारा एक प्रकार के सामाजिक नियतिवाद का रूप उभरा है, कि उसके अंतर्गत मार्क्स और एंगेल्स की कला तथा सौन्दर्य संबंधी अवधारणाएं एक प्रकार के साहित्य या कला के समाज शास्त्र में बदल गई हैं, कि कला की सापेक्षिक स्वायत्तता के प्रति सजग रहते हुए भी प्लेखानोव व्यवहार में उसे अपनी विचारणा का अंग नहीं बना पाये हैं और उस रूप में कलाकृति की सही व्याख्या नहीं कर पाए है, परन्तु इन बातों के होते हुए भी प्लेखानोव का कला-चिन्तन मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में महत्त्व के साथ उल्लेखनीय है।

कला के सामाजिक आधार को स्पष्ट करने में, कला की वर्गीय भूमिका को सामने लाने में, सौन्दर्य की सामाजिक सत्ता को रेखांकित करने में, कला के निर्माण में मानवीय श्रम की भूमि को उजागर करने, सौन्दर्य और श्रम में संबंध बतलाने तथा उपयोगिता और सौन्दर्य का क्रम निर्धारित करने में, विचारधारात्मक बाह्य संरचना के अंग के रूप में कला की व्याख्या करने तथा कला के विचारधारात्मक वस्तुतत्व को निर्णायक मानने में, रूपवादी कला की पतनशीलता को उभारने तथा सामाजिक जीवन के मुख्य प्रवाह से जुड़ी कला की जीवतता को पहचानने और व्याख्यायित करने में, कहा जा सकता है कि बुर्जुआ रूपवादी सौन्दर्य चिन्तकों तथा साहित्य और कला समीक्षकों के तर्कों को पूरी विश्वसनीयता और प्रभाव के साथ काटने और उनके स्थान पर साहित्य और कला की मार्क्सवादी दृष्टि को प्रतिष्ठापित करने में हम प्लेखानोव के रचनात्मक योगदान बखूबी देख सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक प्रतिपत्तियों के मोह में सौन्दर्य की व्याख्या एक जीवशास्त्रीय नियतिवाद के तहत करते हुए तथा कला की अपनी सामाजिक व्याख्या के अंतर्गत कला की सापेक्ष स्वायत्तता के प्रति सजग न रह पाने के नाते, निश्चय ही प्लेखानोव का कला चिन्तन कला के प्रति एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को प्रश्रय देता है और मार्क्सवाद की क्रांतिकारी मानववादी ऊर्जा से अधिक संस्पर्शित नहीं हो पाता, फिर भी, जैसा कि हमने अभी कहा, मार्क्सवादी कला चिन्तन के उन्नायकों में अपनी सीमाओं के बावजूद प्लेखानोव पहली पंक्ति के व्यक्ति हैं। जिन विपरीत स्थितियों में विचारधारात्मक संघर्ष करते हुए उन्होंने अपने चिन्तन को पेश किया उनके बारे में कोई भी समग्र अभिमत बनाते समय हमें उन्हें जरूर ध्यान में रखना चाहिए।

रूस की अक्तूबर क्रांति का सफल नेतृत्व करने वाले, मार्क्सवादी विचार दर्शन के अप्रतिम व्याख्याकार लेनिन का योगदान जितना मार्क्सवादी विचार दर्शन के सक्षम व्याख्याता और व्यवहार में उसके सफल प्रयोक्ता के रूप में है उतना ही

मार्क्सवादी कला-चिन्तन को साहित्य तथा कला-समीक्षा में उसके सही आशयों के साथ प्रयुक्त करने तथा सौन्दर्यशास्त्रीय सवालों को मार्क्सवाद की जमीन से सामाजिक वास्तविकता से जोड़ने तथा हल करने में है। सामाजिक बदलाव में साहित्य तथा कला का सार्थक विनियोग किस प्रकार होना चाहिए, सौन्दर्यशास्त्रीय सवालों को किस प्रकार अमूर्तन से बचाकर मानवीय जिन्दगी के ठोस यथार्थ से संपृक्त करके देखना चाहिए तथा साहित्य की साहित्यिकता के साथ-साथ किस प्रकार साहित्य की सामाजिकता का एकात्म होना चाहिए, लेनिन का साहित्य और कला चिन्तन हमें इन बातों के प्रति मुखातिब ही नहीं करता हमें वह दृष्टि भी देता है कि हम साहित्य और कला की अपनी विशिष्ट प्रकृति की पहचान रखते हुए भी उन्हें एक सार्थक सामाजिक बदलाव से जोड़े रख सकें, लेनिन के ही शब्दों में, उन्हें सर्वहारा के हाथों में एक तेज और कारगर हथियार के रूप में सौंप सकें। समग्रतः लेनिन का कला-चिन्तन जिन मुख्य मुद्दों पर साहित्य तथा कला की मार्क्सवादी समझ को स्पष्ट करता, प्रखर बनाता और उसमें इजाफा करता है, वे हैं—साहित्य और कला तथा यथार्थ बोध और यथार्थ चित्रण, साहित्य और कला तथा विचारधारा, साहित्य और सर्वहारा, साहित्य और सामाजिक बदलाव, साहित्य और कला तथा पक्षधरता, लेखन स्वातन्त्र्य अर्थात साहित्य और कला की स्वायत्तता आदि-आदि।

लेनिन द्वारा प्रतिपादित तथा मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में बहुचर्चित उनके प्रतिबिम्बन सिद्धान्त की इस बिन्दु पर कुछ विशेष चर्चा हम करना चाहेंगे। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में इसे लेनिन के विशेष अवदान के रूप में स्वीकार किया गया है और इसके महत्त्व की स्वीकृति उन लोगों ने दी है जो इसे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत केन्द्रीय भूमिका देने के पक्ष में नहीं हैं। बहरहाल लेनिन का यह प्रतिबिम्बन सिद्धान्त उनके द्वारा अपनी प्रसिद्ध कृति 'मेटीरियलिज्म एण्ड इम्पीरियो क्रिटिसिज्म में मार्क्सवादियों की आलोचना के क्रम में सामने आया है जिसके अन्तर्गत उन्होंने मार्क्स और उनके अनुयायियों की कड़ी आलोचना करते हुए उनके भाववादी-आदर्शवाद की धज्जियाँ उड़ाई हैं और ज्ञान के अपने भौतिकवादी नजरिए को, उक्त इन्द्रियानुभववादियों के विपरीत ठोस वस्तुगत धरातल पर पेश किया है।

अपने उक्त सिद्धान्त के अन्तर्गत लेनिन ने वास्तविकता को उसके सार तत्त्व के साथ पहचानने और मूर्त करने पर बल दिया है। उनका यह सिद्धान्त साहित्य और कला में वस्तुगत यथार्थ की हूबहू प्रतिकृति का सिद्धान्त नहीं है और न ही इसके अन्तर्गत वस्तुगत यथार्थ को झुठलाते हुए रचनाकार के मनोगत यथार्थ को ही महत्त्वपूर्ण माना गया है, यह इस स्थापना का भी खण्डन करता है कि रचनाकार बाहरी वास्तविकता के अराजक और अस्त-व्यस्त रूप को अपनी रचना में एक व्यवस्था प्रदान कर एक प्रकार से एक नई वास्तविकता का अंकन करता है।

ये सारी बातें भाववादी दार्शनिकता के आवरण मे वस्तुतः उन आधुनिकतावादियों की बातें हैं, जिनके लिए बाहरी वास्तविकता का कोई मूल्य नहीं है। लेनिन का उक्त सिद्धान्त बाह्य वास्तविकता का अवमूल्यन करने वाली हर विचारधारा पर प्रहार करता है, तथा इस बात पर आग्रह करता है कि रचनाकार सामाजिक विकास के वस्तुनिष्ठ नियमों के तहत उभरने वाली बाहरी वास्तविकता को उसकी प्रतिनिधिकता मे उसके सारतत्त्व के साथ पहचाने तथा उसकी संगति में अपनी कला मे उसके स्वरूप को कला रचना की अपनी विशिष्टता के बीच चित्रित करे। रचना के अन्तर्गत चित्रित वास्तविकता बाहरी वास्तविकता से अलग न होकर उसी का कलात्मक रूप होती है। वह उसकी प्रतिकृति न होकर भी उसी का प्रातिनिधि रूप होती है। लेनिन इस बात के प्रति भी हमें मुखातिब करते हैं कि *कला सौन्दर्यबोध के साथ-साथ हमें वास्तविकता का संज्ञान भी कराती है,* कि उसके अन्तर्गत वस्तुगत यथार्थ की सच्चाई इस रूप मे उभरती है कि उसके माध्यम से *हम न केवल अपने समय और समाज को पहचान पाते हैं, उसे बदलने की दृष्टि* भी पाते हैं। तोल्सतोय के 'युद्ध और शान्ति' उपन्यास को इसी क्रान्ति का दर्पण उन्होंने इसी अर्थ मे माना है।

साहित्य के विचारधारात्मक महत्त्व की पूरी स्वीकृति और उसे पूरी अहमियत देते हुए भी, सर्वहारा के हित मे साहित्य की पक्षधरता की पूरी हिमायत करते हुए भी, साहित्य को सामाजिक बदलाव के लिए संघर्षरत ताकतों के हाथ का हथियार कहते हुए भी लेनिन साहित्य और कला की अपनी विशिष्ट प्रकृति, उसके अपने विशिष्ट रचना नियमो और उसकी सापेक्ष स्वायत्तता को एक क्षण के लिए भी नही भूलते, वरन् उन्हें रेखांकित करते हैं। साहित्य एवं कला सम्बन्धी उनके विचार इस नाते भी विशेष अर्थवान हैं कि लेनिन ने उन्हें वास्तविक-जीवन स्थितियों के बीच से पाया है। मार्क्स और एंगेल्स की कला तथा साहित्य सम्बन्धी अवधारणाएं लेनिन की व्याख्याओ के अन्तर्गत अपनी समूची ऊर्जा के साथ व्यक्त हुई हैं तथा बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्रियों के लिए सबसे कठिन चुनौती साबित हुई हैं।

लेनिन के साथ ही इस क्रम में हम प्रसिद्ध मार्क्सवादी कला विचारक लूनाचरस्की का कुछ जिक्र करना चाहेंगे। लूनाचरस्की के साहित्य और कला सम्बन्धी विचार इस अर्थ मे विशेष मूल्यवान हैं कि अक्तूबर क्रांति की सफलता के उपरान्त सोवियत रूस की नई रचनाशीलता के सामने आई नई चुनौतियों के बीच वे सामने आए। लूनाचरस्की पर निश्चित रूप से प्लेखानोव के विचारों की गहरी छाप है, फिर भी, आगे चलकर मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन को प्लेखानोव की समाजशास्त्रीय अवधारणाओं की तुलना मे उन्होंने अधिक महत्त्व दिया और सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि उन्होंने साहित्य समीक्षा के कुछ बहुत ठोस प्रतिमानो को सामने रखकर समकालीन समीक्षा

की अराजक स्थितियों को खत्म किया। वस्तु और रूप के सवाल को नए सिरे से उठाते हुए उन्होंने वस्तु की निर्णायक भूमिका के बावजूद रूप तत्त्व के महत्त्व को रेखांकित किया और इस रूप सम्बन्धी सही अवधारणा को पेश करके रूपवादी खतरों के प्रति रचनाकारों तथा समीक्षकों को सजग किया। इसी प्रकार प्राचीन क्लासिकों के बारे में अति उत्साहियों के नकारात्मक रुख की आलोचना करते हुए उनके प्रति एक सही रुख अपनाने का आग्रह किया और इस क्रम में मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रस्तुत किये गए ग्रीक महाकाव्यों तथा अन्य क्लासिकों के बारे में गेटे, बाल्जक शेक्सपियर आदि के बारे में, व्यक्त विचारों तथा लेनिन की तोल्सतोय सम्बन्धी मान्यताओं को उदाहरण के रूप में सामने रखा। लूनाचारस्की ने अतिवादी आग्रहों से बचने की सलाह देते हुए तथा मार्क्सवादी दृष्टि को सही रूप से पहचानते हुए रचना तथा समीक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने की बात की तथा साहित्य और कला को जनता के जीवन में सार्थक बदलाव लाने के काम में गम्भीरतापूर्वक अपनी भूमिका अदा करने की पेशकश की। उनके अपने समय में मार्क्स एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय चिह्न को फिर से रेखांकित करने के तथा उन्हें ही आलोक स्तंभ के रूप में स्वीकार करने के कुछ ठोस उपक्रम भी हुए जिनमें लूनाचारस्की की सहायता से शिलर और माइकेल लिफशिज द्वारा मार्क्स और एंगेल्स के कला सम्बन्धी विचारों के एक सम्पादित संकलन का नाम, 'आन लिटरेचर एण्ड आर्ट' तथा लिफशिज की अपनी कृति 'आन दा प्राबलम ऑफ मार्क्स आइडियाज' विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसी किताबों की जरूरत इस नाते महसूस की गई ताकि विशुद्ध समाज शास्त्र की ओर बढ़ते हुए मार्क्सवादी कला चिन्तन को उसकी वास्तविक सौन्दर्यशास्त्रीय जमीन, उसके क्रांतिकारी मानववादी आशयों तथा उसके सही सामाजिक आधार से जोड़े रखा जा सके।

मार्क्सवादी कला चिन्तन के विकास में इसी समय और कुछ आगे चलकर और भी नए आयाम जुड़े जबकि सोवियत रूस के अलावा पूंजीवादी देशों के मार्क्सवादी कला चिन्तकों रचनाकारों और बुद्धजीवियों ने साहित्य और कला के महत्त्वपूर्ण सवालों से मुखातिब होते हुए उसे नई और मौलिक व्याख्याओं से सम्पन्न किया। इस क्रम में इग्लैंड के एलिक वेस्ट, जार्ज थाम्पसन, त्रिस्टोफर काडवेल तथा राल्फ फाक्स आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनमें भी काडवेल का साहित्य चिन्तन, विशेषत: कविता और उसके स्रोतों के सम्बन्ध में उनके विचार तथा साहित्य और कला सम्बन्धी कुछ आधारभूत बुर्जुआ अवधारणाओं का उनके द्वारा किया गया खण्डन विशेष महत्त्वपूर्ण है। काडवेल के कला चिन्तन को लेकर आज कुछ विवाद भी है परन्तु कहना न होगा कि पश्चिमी देशों और भारत में काडवेल की एक मार्क्सवादी कला चिन्तक के रूप में विशेष ख्याति है और अपनी सीमाओं में भी उनका साहित्य और कला चिन्तन

मार्क्सवादी कला चिन्तन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

काडवेल बहुत अल्पायु मे दिवंगत हो गए परन्तु इस अल्पायु में ही बड़ी प्रखर मेधा के साथ वे कला चिन्तन के क्षेत्र में उभरे तथा सहज सिद्धान्त कथन तक ही अपने को सीमित न रखकर उन्होंने उन सिद्धान्तों को साहित्य और कला की व्यावहारिक समीक्षा मे प्रयुक्त किया। अंग्रेजी की कविता विशेषत: रोमानी कविता तथा अंग्रेजी के उपन्यास साहित्य को उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा का लक्ष्य बनाया तथा मार्क्सवादी दृष्टि का विनियोग करते हुए उनकी समीक्षा को उभारा। उपन्यासों के क्षेत्र मे उन्होंने यथार्थ दृष्टिकोण की वरीयता साबित की तथा कविता के क्षेत्र में कविता के सामाजिक आधारों तथा उसकी सामाजिक जीवन मे सक्रियता की चर्चा करते हुए रोमानी व्यक्तिनिष्ठ आदर्शों का प्रतिकार किया। कविता को मूलत: एक सामाजिक कर्म मानते हुए उन्होंने उसके उद्भव की व्याख्या की, उसका सम्बन्ध मनुष्य के श्रम तथा सामूहिकता की भावना से जोड़ा तथा मनुष्य के क्रियाशील जीवन मे उसकी क्रान्तिकारी भूमिका को प्रस्तुत किया। मनुष्यता के अमरत्व के साथ उन्होंने कविता के अमरत्व की भी घोषणा की और इस बात को भी रेखांकित किया कि नई समाज रचना और नए मनुष्य के आविर्भाव के साथ कविता अपनी चरम ऊर्जा के साथ मनुष्य की सहचरी बनी रहेगी। काडवेल ने स्वातंत्र्य, सौन्दर्य, शौर्य जैसी अवधारणाओं की मार्क्सवादी दृष्टि से व्याख्या करते हुए बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्रियों के विभ्रमों का पर्दाफाश किया और बताया कि सही स्वातंत्र्य और सौन्दर्य एक वर्गहीन समाज मे ही सम्भव हो सकेगा, मार्क्सवाद की जिसके लिए जद्दोजहद है। पूँजीवादी दुनिया ने गुलामी और विरूपता के अलावा कुछ भी नहीं दिया है। वर्गहीन समाज के अन्तर्गत ही मनुष्य को उसकी अस्मिता, स्वातंत्र्य तथा सौन्दर्य चेतना की उपलब्धि हो सकेगी, सारा संघर्ष, वह कला की जमीन से हो रहा हो अथवा सामाजिक राजनीतिक जीवन मे स्वातंत्र्य, सौन्दर्य तथा समता के इन्ही लक्ष्यों से अनुप्रेरित है, मार्क्सवाद जिसकी अगुआई कर रहा है।

अक्तूबर क्रान्ति की सफलता के उपरान्त एक नई समाज रचना मे संलग्न सोवियत रूस के साहित्य तथा कला जगत मे लेनिन के उपरान्त कुछ समय के लिए एक किस्म के गतिरोध की स्थिति उभरती है जबकि साहित्य और कला की अपनी विशिष्ट प्रकृति और उसकी रचना के अपने वस्तुगत नियमों को नजरंदाज करते हुए, जिसके प्रति मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन विशेष रूप से सजग तथा संवेदनशील थे, रचनाशीलता को तथा कला समीक्षा को ऊपर से अनुशासित और सीमाबद्ध करने के प्रयास होते हैं, फलत: मार्क्सवादी कला दृष्टि के सहज और स्वस्थ विकास मे कुछ बाधा उत्पन्न होती है। समाजवादी यथार्थवाद के नाम पर जो नई यथार्थ दृष्टि सोवियत रूस की नई सामाजिक वास्तविकता के तहत

उभरती है, बजाय उसके नई रचनाशीलता को ऊर्जा देने के, नई रचनाशीलता को कुछ खास सीमाओं में बद्ध करने के लिए लागू किया जाता है। लेनिन साहित्य और कला की दलीय प्रतिबद्धता के प्रति सहमत होते हुए भी अपने आशयों में उदार थे किन्तु सोवियत रूस का नया नेतृत्व यह उदारता नहीं बरतता और इसके परिणाम भी एक निहायत सतही किस्म की रचनाशीलता के रूप में सामने आते हैं। बहरहाल यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं रहती और इस प्रकार के माहौल में भी विचार तथा चिन्तन दोनों आयामों पर मार्क्सीय दृष्टि को उसके सही सौन्दर्यशास्त्रीय आधार के साथ भी प्रस्तुत किया जाता है।

सोवियत रूस के अलावा नवस्वतंत्र चीन के अपने मुक्ति संग्राम के दौर में माओ-से-तुंग तथा उनके सहकर्मियों द्वारा भी मार्क्सवादी कला चिन्तन की परम्परा को चीन की मुक्तिकामी जनता की नई आकांक्षाओं से जोड़ते हुए तथा रचना तथा विचार दोनों आयामों पर चीनी लेखकों को मार्क्सवादी कला दृष्टि के बुनियादी आधारों के प्रति जागरूक रहते हुए विकसित और समृद्ध किया जाता है। येनान फोरम से व्यक्त किए गए माओ-से-तुंग के साहित्य तथा कला सम्बन्धी विचार इस दृष्टि से विशेष मूल्यवान हैं जिनके अन्तर्गत कला तथा साहित्य रचना के स्रोतों से लेकर सार्थक सामाजिक परिवर्तन में उनकी क्रांतिकारी भूमिका तक का विशद् विवेचन प्राप्त होता है तथा नई जनवादी रचनाशीलता के निर्माण के लिए जो खासतौर से प्रेरक सिद्ध होते हैं, जाहिर है कि माओ के ये विचार न केवल मार्क्सवादी कला दृष्टि को प्रमाणिक रूप से प्रस्तुत करते हैं, मुक्ति के वृहत्तर लक्ष्य में रत चीन की जनता तथा चीन के सांस्कृतिक कर्मियों को तात्कालिक संदर्भों में नई प्रेरणा भी देते हैं। मार्क्सवादी कला दृष्टि इस प्रकार जीवतता भी प्रमाणित करती है कि वह नए संदर्भों में साहित्य और कला रचना तथा साहित्य कला समीक्षा के नए औजार भी विकसित करती है। कला की वर्गीय भूमिका का सवाल हो अथवा उसके सामाजिक और जन आधार का, कला-रचना के प्रेरणा स्रोतों की बात हो अथवा उसकी रचना के वस्तुगत आधारों की, कला के प्रयोजन की चर्चा हो अथवा उसकी विचारधारात्मक भूमिका की, कला तथा साहित्य की स्वायत्तता का सवाल हो अथवा नए नए अभिव्यक्ति प्रकारों में उनके रूपायन का, माओ-से-तुंग कहीं भी मार्क्स और एंगेल्स की मूलवर्ती दृष्टि से विचलन नहीं सूचित करते। यही कारण है कि उनका तथा उनके सहकर्मियों का साहित्य तथा कला चिन्तन मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन में नई समृद्धि का ही द्योतक माना गया है।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में नई कड़ियां जोड़ने वालों में कुछ महत्त्वपूर्ण नाम और भी हैं जो कतिपय अर्थों में विवादास्पद होते हुए भी मार्क्स-वादी सौन्दर्यशास्त्रीय चर्चा के तहत किसी भी रूप में नहीं छोड़े जा सकते। ऐसे

नामों मे जार्ज लुकाच, अर्न्स्ट फिशर, एन्तोनियो ग्राम्शी तथा अपेक्षाकृत कुछ बाद के रेमण्ड विलियम्स, वाल्टर बेंजामिन एवं मार्क्सवाद से प्रभावित किन्तु उसके दायरे से अलग हरबर्ट मारक्यूज और लुसिए गोल्डमान आदि आते हैं। इनमें अन्तिम दो मार्क्सवाद के दायरे के बाहर होने के नाते हमारी चर्चा के भी बाहर हैं जबकि शेष में ग्राम्शी को छोड, अन्यों ने मार्क्सवाद के दायरे के भीतर रहते हुए विवादास्पद स्थापनाएं की हैं। अर्न्स्ट फिशर तथा रेमण्ड विलियम्स ने मार्क्सवाद की कुछ बुनियादी अवधारणाओं को संशोधित करने का प्रयास किया है, मसलन आधार और उस पर टिकी विचारधारात्मक बाह्य संरचना की अवधारणा को उन्होंने बहुत संगत नही माना तथा साहित्य और कला सम्बन्धी उनकी दूसरी स्थापनाएं भी मार्क्सवादी कला-चिन्तन को तथाकथित जड़वादी दायरे से निकालने के नाम पर अतिशय उदारवादी हो गई हैं। दूसरी ओर लुकाच मार्क्सवाद के दायरे में आने के बाद उसके प्रति वफादार रहे हैं परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासों के प्रति उनके मोह ने उन्हें यथार्थवाद की नई अवधारणा समाजवादी यथार्थवाद के प्रति उतना सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहने दिया है। ब्रेख्त के साथ उनकी बहस नई यथार्थ दृष्टि तथा नई रचनाशीलता के प्रति उनके उपेक्षाभाव को लेकर ही है गोकि अन्य तमाम बातों में वे परस्पर सहमति ही सूचित करते हैं। ग्राम्शी ने आधार और बाह्य संरचना की अवधारणा की बुनियाद पर अपनी प्रभुत्व की अवधारणा को प्रस्तुत किया जो नए संदर्भों मे आधार और बाह्य संरचना की अवधारणा को अधिक स्पष्ट और व्यापक बनाकर पेश करती है। कुछ ऐसा ही प्रयास लुकाच ने समग्रता की अपनी अवधारणा के तहत किया है किन्तु ग्राम्शी की स्थापना उनकी तुलना मे अधिक सटीक है। बहुत विस्तार में न जाकर अब हम उपर्युक्त विचारकों की मूल चिन्ताओं के तहत उभरने वाले कुछ ऐसे मुद्दों को रेखांकित करना चाहेंगे जो मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की सही समझ के लिए जरूरी हैं तथा जिन्हें लेकर ही मार्क्सवादी कला विचारकों के मध्य विवाद हुआ है। इन मुद्दों में कला और विचारधारा के सम्बन्धों का सवाल, आधार और बाह्य संरचना का सवाल, वस्तु और रूप का सवाल, कला की सापेक्षिक स्वायत्तता का सवाल, उसकी प्रयोजनीयता का सवाल तथा समाजवादी यथार्थवाद की अपनी अवधारणा का सवाल विशेष रूप से रेखांकित किए जाने के योग्य हैं।

मार्क्सवादी हलकों में सबसे पहले कला और विचारधारा के सवाल को ही लें, सम्प्रति, हिन्दी के मार्क्सवादी हलकों मे जिस पर सबसे विशेष चर्चा हो रही है। मार्क्स ने साहित्य और कला को विचारधारात्मक बाह्य संरचना का अंग माना है। विचारधारात्मक वस्तुतत्त्व की साहित्य और कला में प्रमुखता तथा उसकी निर्णायक भूमिका की ओर भी मार्क्सवादी कला विचारकों ने मुख्यता के साथ इशारा किया है। सामाजिक जीवन के बदलाव मे, कला की सार्थक भागीदारी भी उसके विचार-

धारात्मक वस्तुतत्व पर आधारित होती है तथा सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा हितो के साथ भी कला अपने इसी प्रखर विचारधारात्मक वस्तुतत्व के तहत ही जुड़ती है। सवाल यह पैदा होता है कि साहित्य और कला का अन्ततः इस विचारधारात्मक वस्तुतत्व के साथ कहाँ तक और कितनी दूर तक जुड़ना सगत है, कला की अपनी इस सहज प्रकृति के अनुकूल है जिसके प्रति भी मार्क्स और परवर्ती विचारक पूरी तरह सजग हैं। यह सवाल कला और विचारधारा के सम्बन्धो को लेकर है जिसके बारे मे मार्क्सवादी विचारको तथा कला चिन्तको के बीच काफी कुछ विवाद है।

कला और विचारधारा के सम्बन्धो को लेकर जो बहुत सारा विवाद है, उसका एक प्रधान कारण विचारधारा को उसकी वास्तविक व्याप्ति मे न समझकर संकीर्ण अर्थों मे समझना और ग्रहण करना है। *विचारधारा का अर्थ महज विचार मान लेने का नतीजा ही उसे मनुष्य के भाव-बोध तथा इन्द्रिय-बोध से अलगाकर* आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक विचारो तक सीमित कर देता है और तब इस प्रकार की स्थापनाएं सामने आती हैं कि साहित्य और कला अशत. ही आधार के ऊपर खड़ी विचारधारात्मक बाह्य सरचना का अंग है और मार्क्स की यह मूल-वर्ती स्थापना ही सही नही है। ऐसी स्थिति मे जरूरी हो जाता है कि विचारधारा को उसके *वास्तविक अर्थ मे, उन अर्थों मे समझा जाय जिन अर्थों मे मार्क्स ने उसका* प्रयोग किया है। जहाँ तक हम समझते हैं, विचारधारा की सज्ञा हमे एक वर्ग विशेष के सामूहिक राजनीतिक कार्यक्रम को ही नही, वरन व्यक्ति की समूची चेतना के वर्गीय स्वरूप को देना चाहिए। विचारधारा व्यक्ति के अनुभव का कोई ऐसा अश नही है जिसे हम उसके शेष अनुभव से अलग कर सकते हैं, बल्कि यह उसके समूचे अनुभव का एक विशिष्ट और आधारभूत आयाम है। सचेप्ट, सुचिंतित *और सुव्यवस्थित निष्कर्षों के अतिरिक्त विचारधारा हमारी भावनाओ के धरातल* पर भी सक्रिय रूप मे विद्यमान रहती है। व्यक्ति वस्तु जगत को जिसमे उसका अपना व्यक्तित्व भी शामिल है, जिस रूप मे देखता, समझता है और महसूस करता है उस रूप की विशिष्टता को लक्षित करने के लिए ही हमे विचारधारा की अव-धारणा की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति की वर्गगत भूमिका उसकी चेतना की *सीमाए निर्धारित करती है उसी के आधार पर वस्तु जगत की एक विशिष्ट प्रकार* की छवि उसकी चेतना पर उभर कर आती है जिसमे वस्तु जगत के कुछ महत्व-पूर्ण पक्ष या तो पूर्णतया अलक्षित रह जाते हैं या फिर विकृत रूप मे ही प्रतिबिम्बित हो पाते हैं। इसी वर्गगत भूमिका के आधार पर व्यक्ति यह तय करता है कि तत्कालीन परिवेश मे किस प्रकार का परिवर्तन लाया जा सकता है और उसके *लिए उसे क्या करना चाहिए। इस प्रकार उसकी समूची चेतना की परिधि जिसमे* उसका दृष्टिकोण, उसकी चिन्तन पद्धति और उसकी भावनाओं की दिशा शामिल है, उसकी वर्गगत भूमिका से निश्चित होती है। जब हम विचारधारा की बात

करते हैं तो हमारा ध्यान उसकी चेतना, अर्थात् उसके दृष्टिकोण और उसकी सम्वेदना की उन सीमाओं की ओर होता है, जिसके अन्तर्गत वह अपनी वर्गगत स्थिति के कारण अनिवार्य रूप से बंधा रहता है और जिनका अतिक्रमण करना उसके लिए सम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य होता है।[1]

विचारधारा के सही आयाम को समझ लेने के उपरान्त और कला तथा साहित्य के वर्ग आधार को, वर्गबद्ध समाज में हमारे वर्गों से परे न होने की स्थिति को समझ लेने के उपरान्त साहित्य और कला से विचारधारा को अलगाने की बात का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। वस्तुत: यह हमारी वर्गगत स्थिति तथा उसके अनुकूल हमारी विचारधारा ही है जो हमें वस्तु जगत का अपने ढंग से प्रत्यक्षण कराती है। हमारे अनुभव, हमारे भाव या विचार सब कुछ उसी से सम्पृक्त होकर सामने आते हैं। हम उससे अलग हो ही नहीं सकते। साहित्य और कला से विचारधारा के विरोध अथवा साहित्य या कला के क्षेत्र से किसी भी तर्क के आधार पर विचारधारा के निषेध या विसर्जन की बात वही करते हैं जो सामाजिक जीवन के बदलाव में या तो साहित्य या कला की कोई सार्थक भूमिका नहीं मानते या उसे सामाजिक जीवन से ऊपर कम कोई अलौकिक या अमूर्त या दैवी इयत्ता के रूप में देखते हैं। इस प्रकार की दृष्टि बुर्जुआ आदर्शवादी, भाववादी, सौन्दर्यशास्त्रियों तथा कला विवेचकों की है, मार्क्सवादी कला विचारकों की नहीं, जिनके लिए कला वस्तु जगत के सज्ञान का भी माध्यम है और समाज को मनुष्य के हित में बदलने के लिए संघर्षरत शक्तियों के साथ जिसकी घनिष्ठ भागीदारी भी है।

विचारधारा की संकीर्ण समझ से मार्क्सवाद का कोई भी वास्ता नहीं है। साहित्य या कला को मनुष्य के सर्जनात्मक श्रम की देन मानने वाले, मनुष्य के इंद्रिय बोध को और विकास के क्रम में उसके निरन्तर मानवीय होते जाने की बात करने वाले, सच्चे संगीत को पहचानने और उसके सही आस्वाद के लिए उसके योग्य, उसे ग्रहण कर सकने लायक कान होने की चर्चा करने वाले, मानव मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को उनकी समूची जटिलता के साथ व्यक्त कर सकने के लिए शेक्सपियर जैसे रचनाकारों की कला पर मुग्ध होने वाले मार्क्स जब साहित्य और कला को विचारधारात्मक बाह्य संरचना का अंग कहते हैं तब निस्सन्देह उनके लिए विचारधारा महज बौद्धिक विचार नहीं होती, वह महज राजनीति और अर्थशास्त्र भी नहीं होती। साहित्य और कला का विचारधारा से सम्बन्ध न मानना साहित्य को उससे परहेज करने की सीख देना, विचारधारा के संस्पर्श से साहित्य या कला के दूषित हो जाने, उसकी शुद्धता के विनष्ट हो जाने की बात करने वाले लोग वस्तुत: ऐसा साहित्य या कला के प्रति किसी बड़ी चिंता के नाते नहीं करते, वरन् उनकी चिन्ताओं का कारण कुछ दूसरा होता है अर्थात्

1. ओमप्रकाश ग्रेवाल—'पहल' का मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक।

साहित्य और कलाओं को उनकी वास्तविक प्रयोजनीयता अर्थात् सामाजिक बद-लाव में किसी भी प्रकार की सक्रियता से दूर रखना।

कला और विचारधारा में परस्पर तालमेल न देखने वाले, कला की परिधि से विचारधारा को दूर रखने की सलाह देने वाले ये बुर्जुआ विचारक भाँति-भाँति के विलक्षण तर्कों का सहारा लेते हैं। कभी विचारधारा के विरोध में अनुभव को रखते हैं और कभी लसाल का सन्दर्भ लेते हुए मार्क्स एंगेल्स के उन विचारों का इस्तेमाल करते हैं जिनमें उन्होंने लसाल को शिलर के बजाय शेक्सपियर का आदर्श मानने की सलाह दी है अथवा मार्गरेट हार्कनेस को लिखे गए एंगेल्स के पत्र की शरण लेते हैं जिसके अन्तर्गत एंगेल्स ने कला के अन्तर्गत विचारों को परोक्ष रहने की बात कही है और सच्चे यथार्थ के विचारों के बावजूद उभरने की चर्चा की है। यदि हम गौर से मार्क्स एंगेल्स के इन या इन जैसे विचारों को देखें और उन पर गम्भीरतापूर्वक मनन करें तो हमें स्पष्ट होगा कि यहाँ मार्क्स या एंगेल्स विचार-धारा के विसर्जन की बात नहीं करते और न ही उन्हें कला की परिधि में अहेतुक मानते हैं, एक सच्चे कला मर्मज्ञ के नाते वे जिस सवाल को उठाते हैं वह विचार-धारा के विसर्जन का न होकर कला या साहित्य में उसके सही रूपान्तरण का है। विचार या विचारधारा कला में आरोपित नहीं होनी चाहिए, वरन् कला के साथ उसका इस प्रकार का एकात्म होना चाहिए कि वह अपने पूरे प्रभाव के साथ विद्यमान होते हुए भी कलाकृति के सौन्दर्य नियमों का अतिक्रमण न करे। यह बात निश्चय ही मार्क्सवादी कला दृष्टि का अभिन्न अंग है और विचार या विचारधारा की कला से निष्कृति से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं। जिन एंगेल्स की शरण विचार-धारा के विरोधी लेते हैं, वही एंगेल्स मीना कात्स्की को लिखे गए अपने पत्र में सोद्देश्य रचना का पक्ष लेते हैं और इस क्रम में एचलीज, एरिस्तोफेनेस, दान्ते तथा सरवेंतीज आदि का नाम लेते हैं जिनकी रचनाशीलता सोद्देश्य रचनाशीलता है। मार्गरेट हार्कनेस को लिखे अपने पत्र में वे उसके उपन्यास 'सिटी गर्ल' की आलो-चना इस नाते भी करते हैं कि उसमें मजदूर वर्ग पस्त-हिम्मत और निष्क्रिय दिखाया गया है। उसके अनुसार 1800 और 1810 के मजदूर वर्ग के बारे में ऐसा चित्रण चल सकता था लेकिन 1887 का मजदूर वर्ग वही नहीं है वह अनेक जुझारू सस्कार संघर्षों में तप और निखरकर सामने आने वाला मजदूर वर्ग है। किसी रचनाकार के लिए जिसने इन पचास वर्षों के मजदूर वर्ग के संघर्ष का देखा हो मजदूर वर्ग का एक निष्क्रिय शक्ति के रूप में सामने लाया जाना कदापि सहन नहीं होगा। हमारे कहने का मतलब यहाँ यही है कि मार्क्स और एंगेल्स ने विचारधारा के विसर्जन की बात कहीं नहीं की है, उसकी तथा किसी भी सच्चे मार्क्सवाद कला विचारक की चिन्ता यही थी या यही हो सकती है कि विचारधारा को किस प्रकार कलात्मक तरीके से रचना का अंग बनाया जाय ताकि वह कलात्मक प्रभाव के साथ अधिक

असरदार बन सके, अधिक कारगर साबित हो सके, आरोपित विचारधारा न केवल अपना असर खोती है, वह कला को मात्र प्रोपेगण्डा या जिसे माओ ने 'पोस्टर कला' कहा है, उसमें बदल देती है। अनुभव के विरोध में विचार को रखना भी इस अर्थ में निहायत बेमानी है कि रचना के अन्तर्गत अनुभव अपने प्रकृत रूप में नहीं विचार की संगति में ही अभिव्यक्त होता है। विचार रहित अनुभव कोरा अनुभववाद है, प्रकृतिवाद है, जिसका मार्क्सवाद से कोई ताल्लुक नहीं है।

समग्रतः विचारधारा तथा कला के सवाल को हमें सही परिप्रेक्ष्य में रखना चाहिए और इनमें विरोध मानकर चलने के बजाय इस रूप में अपनी चिन्ता का विषय बनाना चाहिए कि विचार या विचारधारा की कलात्मक परिणति कला के अन्तर्गत कितने कारगर तरीके से कृति के कलात्मक तथा सौन्दर्यात्मक प्रभाव की रक्षा करते हुए हो सकती है। अस्तु—

आधार और विचारधारात्मक बाह्य संरचना का सवाल भी वस्तुतः सवाल नहीं है। बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्रियों ने और उनके दबाववश उदारतावादी मार्क्सवादी विचारकों ने इसे ख्वामख्वाह एक सवाल बनाकर पेश कर दिया है। आधार या अधिरचना की बात महज रूपक नहीं है, उसके पीछे मार्क्सवाद के प्रवर्तकों का सामाजिक विकास और सामाजिक संरचना संबंधी ठोस अध्ययन और चिन्तन है। इस स्थापना को आर्थिक नियतिवाद कहने वाले उसके मूलवर्ती मंतव्य को न समझ पाने के नाते ही भ्रांतियों को पालते हैं तथा कला और साहित्य की समझ में उनका गलत इस्तेमाल करते हैं। 'ए कन्ट्रीब्यूशन टु द क्रिटीक आफ पोलिटिकल इकानोमी' कृति की भूमिका में मार्क्स के जिस कथन को हमने प्रारंभ में उद्धृत किया है उसमें आर्थिक भौतिक जीवन अर्थात आधार के बदलते ही समूची बाह्य संरचना के कमोबेश उसी तेजी से रूपांतरित होने की बात कहते हुए भी मार्क्स ने स्पष्टतः कहा है कि इस प्रकार के रूपांतरों पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक स्थितियों, जिन्हें प्राकृतिक विज्ञान की सूक्ष्मता के साथ निर्धारित किया जा सकता है, और विधिमूलक, राजनीतिक धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक रूपों के बीच, जिनमें मनुष्य इस संघर्ष के प्रति सचेत रहता है और उसमें विजय प्राप्त करना चाहता है, फर्क करना आवश्यक है।

यह आधार और बाह्य संरचना के यांत्रिक संबंधों का निदर्शन नहीं उनके परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करने की बात है, जिसमें अंततः ही आर्थिक आधार निर्णायक साबित होता है। यह साहित्य और कला को आर्थिक भौतिक जीवन से अनुकूलित और नियत होने की बात भी नहीं है। यहां भी उसी द्वन्द्वात्मक सक्रियता की स्थिति है। मार्क्स की इस स्थापना को एंगेल्स ने निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट किया है। इस क्रम में डबल्यू बोरगियस, जोजेफ ब्लाख, तथा हीन्ज स्टारकेनवर्ग को लिखे गए उनके पत्र प्रमाण हैं जिनमें उन्होंने बड़ी स्पष्टता के साथ कहा है कि

आधार और ऊपरी या बाह्य संरचना के रूप मे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है और *आर्थिक कारण ही एकमात्र निर्णायक तत्व नही होता*, विचारधारा के रूप भी आर्थिक भौतिक धरातल को प्रभावित करते हैं और कतिपय सीमाओ के भीतर उसे सशोधित भी कर सकते हैं। जाहिर है कि इन कथनो के बाद *आधार और ऊपरी ढांचे या बाह्य संरचना पर* बुनियादी आपत्ति उठाने का कोई मतलब नही रह जाता। इनकी व्याख्या के नए आयाम हो सकते हैं परन्तु मूलवर्ती अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगाना मार्क्सवाद को सशोधित करना ही *माना जाएगा और इस दृष्टि से की गई साहित्य और कला की विवेचना भी मार्क्सवादी नही रह पाएगी।* रेमण्ड विलियम्स की इस स्थापना पर कि साहित्य एव कला अंशत: ही निश्चित आर्थिक सामाजिक सबंधो की सैद्धान्तिक बाह्य सरचना है, जैक लिण्डसे का यह कथन सही जान पडता है कि "उन विचारको की भांति जो आर्थिक और बौद्धिक धरातल के बीच यान्त्रिक कार्य-कारण संबंधो की रूढिवादी समझ का परिचय देते हैं वे विचारक भी, जो समाज के अर्थनैतिक सबधो से उसे सर्वथा पृथक और असबद्ध मानते हैं, एक दूसरे प्रकार के बौद्धिक अतिवाद के जनक हैं, जिसे बौद्धिक आत्महनन ही कहा जा सकता है।"

साहित्य और कला की सापेक्षिक स्वायत्तता की बात भी इसी से जुडी हुई है। सामाजिक विकास और कलात्मक विकास मे कार्यकारण सबध या सीधा यान्त्रिक संबंध नही होता, इसे मार्क्स ने ग्रीक महाकाव्यो के संबंध मे स्वय माना है। *उनकी जिज्ञासा का संदर्भ यह है कि एक अविकसित या अल्प विकसित समाज मे* ऐसी कला कैसे सभव हुई जो आज भी हमारे आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है और इसका समाधान भी उन्होंने यह कहकर दिया है कि क्या प्रत्येक युग की पुन. *प्रतिष्ठा प्रकृति के निकट बिल्कुल सही रूप मे बच्चे की प्रकृति मे नही होती।* ऐसी स्थिति मे मनुष्यता का वह सामाजिक शैशव जिसके अतर्गत उसने *अपना सुन्दरतम* विकास किया है एक ऐसे युग के रूप मे हमारे शाश्वत आकर्षण की वस्तु क्यो न *बने जिसका दुबारा लौटना असम्भव है।*...जिन *अपरिपक्व* सामाजिक स्थितियो मे उस कला का विकास हुआ था और जिनके भीतर ही उसका उदय हो सकता था, वे अब दुबारा लौटकर नही आएंगी। कहने का तात्पर्य यह है कि मार्क्स और *एगेल्स कलाओ की अपनी स्वायत्त प्रकृति से इकार नही करते।* कदाचित ही कोई मार्क्सवादी विचारक उन्हें आर्थिक भौतिक-धरातल से जड रूप मे अनुशासित और नियत मानता हो, कारण यह मार्क्सवादी प्रस्थापना है ही नही, हां, कलाएँ सापेक्षिक रूप से ही स्वायत्त होती हैं, सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास *की स्थितियां उन पर अपने दबाव डालती हैं और उनकी वस्तु तथा रूप का* निर्धारण करती हैं। वह दबाव सीधा और यान्त्रिक नही होता परतु यह आर्थिक भौतिक जीवन तथा सामाजिक जीवन की अपनी विकास प्रक्रिया से एकदम

मुक्त भी नहीं हो सकता। सौन्दर्य की सत्ता भी सामाजिक ही होती है, वह उससे मुक्त वैसी अमूर्त नहीं होती जैसा कि बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्री उसे बताते हैं। प्लेखानोव तक कला का मूल्यांकन करते समय कला के अपने औजारों की दरीयता पर बल देते हैं, *कला रचना के अपने वस्तुगत नियमों की बात करते हैं।* यह जरूर है कि साहित्य या कला सामाजिक जीवन की उपज और मनुष्य के सर्जनात्मक श्रम की उपलब्धि होने के नाते अपनी जड़ें इस सामाजिक जीवन में ही रोपती है अतएव उनके अपने वस्तुगत नियम, उनके मूल्यांकन के औजार समाज से अलग और उससे ऊपर नहीं हो सकते। सवाल संपूर्ण स्वायत्तता या सापेक्षिक स्वायत्तता का ही है। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र साहित्य और कला की समाज सापेक्ष स्वायत्तता का निस्संदेह हामी है भाववादियों की चरम परम स्वायत्तता की बात चरम परम ब्रह्म की भांति ही उसे अस्वीकार है।

वस्तु और रूप संबंधी विवाद भी उतना 'जेनुइन' विवाद इस नाते नहीं है कि कला और साहित्य के वस्तु तत्त्व पर बल देते हुए भी मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र के अन्तर्गत रूप तत्त्व की पर्याप्त रूप से महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई है। लसाल के नाटक की विषय वस्तु के नाटक में ही समुचित रूप से आकार पाने की बात पर तथा उनके अंतर्गत ट्रैजिक तत्व की अभिव्यक्ति पर मार्क्स एंगेल्स ने विस्तार से प्रकाश डाला है। कतिपय अति उत्साहियों की बात जाने दें, तो मार्क्सवाद के प्रत्येक गंभीर कला विवेचक ने वस्तु और रूप तत्त्व की आवश्यक एकता तथा संगति पर बल दिया है। महत्त्व वस्तु का है और होता है, वही रूप का निर्धारण भी करता है तथा मुख्य होता है परंतु रूप तत्त्व भी बाह्य संरचना की भांति महज निष्क्रिय होकर प्रभाव ही नहीं ग्रहण करता बदले में वस्तु तत्त्व को प्रभावित भी करता है और कभी-कभी उसे बदल भी देता है। लूनाचरस्की ने रूपवाद के खतरे के प्रति *समकालीन रचनाकारों तथा विचारकों को आगाह करते हुए भी उनसे रूप तत्त्व के* प्रति कतई उपेक्षा न बरतने का भी आग्रह किया है। अर्नं फिशर की वस्तु और रूप संबंधी व्याख्या भी गहराई में जाकर उनका विश्लेषण करती है और दोनों के एकात्म को आदर्श मानते हुए भी वस्तु तत्त्व की मुख्य भूमिका को स्वीकार करती है। वस्तुतः रूप तत्त्व की प्रमुखता और वस्तु तत्त्व के बरबस उसे खड़ा करने का प्रयास बुर्जुआ विचारक तथा सौन्दर्यशास्त्री इस नाते करते हैं कि वस्तु तत्त्व की समूची प्रखरता के साथ सामने आने वाली कला कृति उन्हें हजम नहीं हो पाती। इसमें वे उस शासक वर्ग के लिए संकट देखते हैं जिसके बने रहने में ही उनका कल्याण है। अर्नं फिशर ने इसी को लक्ष्य करके कहा है कि बुर्जुआ संसार के रक्षक अपने पूंजीवादी वस्तु तत्त्व की चर्चा नहीं करते। वे सदैव उसके जनतांत्रिक रूप का आलाप करते हैं जो कि अपने हर जोड़ से टूट रहा है। पूंजीवाद तथा समाजवाद के निर्णायक संघर्ष से लोगों का ध्यान बटाने के हेतु वे इसे जनतंत्र तथा तानाशाही

का संघर्ष कहते है, चूंकि उनके लिए पूंजीवाद के पुराने पड़ गए सामाजिक वस्तु तत्त्व को, जो कि तमाम अभिशापो तथा संकटो का मूर्त्त रूप है, गौरवान्वित करना मुश्किल पड रहा है इसलिए पूंजीवाद के समर्थक ये लोग उसकी चर्चा न कर केवल उसके सामाजिक तथा राजनीतिक रूप तत्त्व की रक्षा की बात करते हैं। उनका कहना है कि वस्तु तत्त्व के विपरीत रूप तत्त्व को प्राथमिक तथा मुख्य बताना हर उस शासक वर्ग का प्रधान लक्षण है जो अपने सिंहासन को डगमगाता हुआ महसूस करता है।

इसी क्रम मे कुछ चर्चा हम समाजवादी यथार्थवाद की करेंगे, यथार्थवाद के विकास मे जो आलोचनात्मक यथार्थवाद के बाद का चरण है तथा जिसे कतिपय मार्क्सवादी विचारको द्वारा मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के मुख्य प्रतिमान के रूप मे सामने लाया जा रहा है तथा कुछ उसमे साहित्य और कला की मार्क्सवादी और सौन्दर्यशास्त्रीय समझ का सकोच देखते हैं। कतिपय विकासशील देशो के युवा मार्क्सवादी रचनाकार और आलोचक तो यथार्थवादी आन्दोलन के इन विकास चरणो को ही अस्वीकार करने की बात करते हैं तथा ऐसे यथार्थ का आग्रह करते हैं जो विचार से अलग महज देखे और भोगे गए अनुभवो पर आधारित हो। यह अनुभव के बरक्स विचार को खडा करने का उपक्रम है जिसकी चर्चा विचारधारा और कला की चर्चा करते समय हम कर आए हैं। यहा हम अपने को आलोचनात्मक और समाजवादी यथार्थवाद की चर्चा तक ही सीमित रखेंगे और वह भी बहुत सक्षेप मे।

लुकाच और ब्रेख्त की जिस बहस का हमने पिछले पृष्ठो मे हवाला दिया है वह तमाम बातो के साथ लुकाच के इस विचार को केन्द्रीयता मे उठाती है कि उन्नीसवी शताब्दी के वे उपन्यासकार जो आलोचनात्मक यथार्थवाद के पुरस्कर्त्ता हैं यथार्थ की नई दृष्टि अर्थात् समाजवादी यथार्थ-दृष्टि के साथ सर्जना करने वालो के लिए मॉडल के रूप मे हैं। ब्रेख्त ने इस बिन्दु पर लुकाच का विरोध किया है कि समकालीन सवालो को समकालीन या यथार्थ की अपने समय की सीधी चुनौतियां को झेलने वाले रचनाकार अपनी रचना स्थितियो तथा अपनी जीवनस्थितियो के बीच से हल क्यो न करें, वे एक बीते हुए युग की रचनाशीलता को, वह कितनी बडी ही क्यो न हो, माडल क्यो मानें। यहाँ ब्रेख्त निश्चय ही सही है और उनका यह कहना भी सही है कि कला के क्षेत्र मे पीछे नहीं जाया जाता। 'सच्ची कला पुरातन अच्छी कृतियो से नही बुरी नई कृतियो से शुरू होती है।'[1] ब्रेख्त लुकाच की तुलना मे अपने समय की प्रगति की ओर अग्रसर शक्तियो पर अधिक आश्वस्त होकर बात करते हैं तथा रचनाकार के रचना कर्म का विकास परिवर्तनकामी शक्तियो के साथ एकजुट होकर किए जाने वाले उनके सघर्ष के

1. अनिल भट्टी — उत्तर गाथा

क्रम में हिस्सेदारी निभाते हुए मानते हैं। उनका नजरिया इस जमीन पर आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपलब्धियों के बावजूद समाजवादी यथार्थवाद को प्रश्रय देने का है। वे सीधे रचना कर्म को, यथार्थवादी रचना शीलता को मजदूर वर्ग के जुझारू दृष्टिकोण से जोड़ते हैं। वे कहते हैं यथार्थवाद का मतलब यह है कि समाज में निहित कार्य कारण सम्बन्धों की जटिलताओं की तलाश की जाए, शासक वर्ग के मौजूदा विचारों का पर्दाफाश किया जाय। समाज द्वारा झेली जा रही मुसीबतों के हल सुझाने वाले मजदूर वर्ग के नजरिये से रचना की जाय। समाज के विकास तत्त्व पर अधिक जोर दिया जाय। यथार्थ को मूर्त रूप में चित्रित किया जाय आदि।"[1]

समाजवादी यथार्थ या समाजवादी यथार्थ दृष्टि की अप्रासंगिकता की चर्चा करने वाले हमारे वे युवा रचनाकार-विचारक, विचार का निषेध कर सहज अनुभव को वरीयता देने वाले हमारे साथी ब्रेख्त के इन विचारों को समझें यही गुजारिश है। रहा लुकाच का सवाल, तो जरूर उन्होंने आलोचनात्मक यथार्थवादियों को मॉडल के रूप में पेश किया है परन्तु समाजवादी यथार्थ दृष्टि की श्रेष्ठता को वे भी स्वीकार करते हैं। उनका जोर इस बात पर है कि कुछेक समय तक आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद में सन्धि चलनी चाहिए ताकि समाजवादी यथार्थवाद के पुरस्कर्ता आलोचनात्मक यथार्थवाद की कलागत उपलब्धियों से सीख सकें। ब्रेख्त का यह कहना सही है कि नए यथार्थ के लिए पुरानी वर्णन शैली भी मॉडल नहीं हो सकती, परन्तु लुकाच का आशय भी समाजवादी यथार्थ का अवमूल्यन नहीं है। समाजवादी यथार्थवादी दृष्टि के जिन खतरों की तरफ उन्होंने ध्यान खींचा है वे जेनुइन हैं अर्थात उसका अतिरेक में रोमानियत में बदल जाना, वह समाजवादी यथार्थ का ऐतिहासिक आशावाद हो, विजन हो, अथवा उसके पाजिटिव हीरो हों। चूँकि एक दौर में ऐसा हुआ है, यान्त्रिक और ढले ढलाए नायक सामने आए हैं, भविष्य दृष्टि यथार्थ की जीवंतता से कटकर रोमानियत में भटकी है और सिद्धान्तों की अति ने कलात्मकता को आहत भी किया है, ऐसी स्थिति में लुकाच की धारणाओं से भी कतई असहमति व्यक्त नहीं की जा सकती। उन्नीसवीं शती के उपन्यासकारों के प्रति उनके मोह को छोड़ दिया जाय, तो लुकाच अंततः समाजवादी यथार्थ दृष्टि की श्रेष्ठता तथा उनकी संभावनाओं के कायल हैं। उनके कुछ विचार तो सोवियत शासन के एक दौर विशेष में होने वाली अतियों की प्रतिक्रिया में भी सामने आए हैं अन्यथा मार्क्सवादी दृष्टि को कला तथा साहित्य की समझ तथा विश्लेषण में उन्होंने पैनेपन के साथ ही लागू किया है।

1. अनिल भट्टी—उत्तर गाथा

आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा समाजवादी यथार्थवाद की चर्चा अब मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की चर्चा की परिधि मे आ गई है। ये दोनों यथार्थवाद के विकास चरण हैं और यथार्थ संबंधी चर्चा मे देश विशेष की अपनी स्थितियो का ख्याल रखते हुए भी हम इन्हें नकार नही सकते। हमें इन्हे नकारना भी नही चाहिए। यह और बात है कि देश-विशेष की स्थितियों के अनुरूप हमे यथार्थ पर अन्यकोणो से भी विचार करना चाहिए और यदि इस क्रम मे कुछ नई स्थितियाँ उभरती हैं तो उन्हें रेखांकित करना चाहिए, जैसा कि हमारे यहाँ प्रेमचन्द के संदर्भ मे किया भी गया है। समीक्षा की विरासत को छोडकर उसके अन्तर्गत चर्चित तथा मान्य हुई अवधारणाओ को बाहर से आई कहकर तथा देश विशेष की स्थितियो पर जरूरत से ज्यादा बल देकर हम नई जटिलताएँ ही पैदा करेंगे।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की परिधि मे विवाद का विषय बनने वाले ये कुछ प्रमुख मुद्दे हैं जिनपर मार्क्सवादी कला चिन्तन के विकास क्रम की एक संक्षिप्त प्रस्तुति करते हुए हमने प्रकाश डाला। विकास की कुछ कड़ियाँ यहाँ छूट गई हैं जिनका संबंध दूसरे तमाम देशो मे होने वाले मार्क्सवादी सौन्दर्य चिन्तन तथा साहित्य समीक्षा से है। हमारा प्रतिपाद्य महज इतना ही है कि मार्क्सवादी विचार दर्शन की भाँति मार्क्सवादी कला दृष्टि भी एक विकासशील कला दृष्टि है जिसमे बदलते हुए समय मे उठने वाले सवालो के परिप्रेक्ष्य मे देश-देश मे नई कड़ियाँ जुड़ी हैं। जडवाद तथा उदारतावाद या संशोधनवाद के खतरे भी सामने आए हैं परन्तु सही दृष्टि की प्रमुखता बराबर बनी रही है। विचारकों तथा रचनाकारो की पीढी दर पीढ़ी ने हर देश मे उसे अपनी बुनियादी जरूरतो के तहत विकसित और समृद्ध किया है अनेक ख्यातिप्राप्त कला विचारको का जिक्र भी हम नही कर सके हैं। यह एक बडा कार्य है जो इस छोटी सीमा मे संभव भी नही था। हिन्दी की अपनी मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा की चर्चा भी हम करना चाहते थे किन्तु अपने मे वह एक स्वतंत्र निबंध का विषय थी। सन् 1936 के बाद से प्रगतिशील आन्दोलन के साथ उभरने वाली इस समीक्षा ने भी जडवाद तथा संशोधनवाद के खतरो से जूझते हुए अपना विकास किया है और आज भी इन चुनौतियो को झेलते हुए विकासशील है।

---

1. अनिल भट्टी—उत्तर गाथा

हिन्दी में जनवादी आलोचना कीपृष्ठभूमि

गद्य की दूसरी विधाओं की भाँति हिन्दी आलोचना भी मूलतः आधुनिक युग मे ही जन्मी और विकसित हुई है। यो तो हिन्दी आलोचना का एक रूप विशेषतः सैद्धान्तिक रूप, हमे मध्ययुग के रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। परन्तु प्रथमत किसी मौलिक आलोचना दृष्टि अथवा सिद्धान्त निरूपण के अभाव मे और दूसरे कविता या साहित्य की अत्यन्त सीमित पहचान के नाते हम उसे हिन्दी आलोचना की परम्परा के अन्तर्गत स्वीकार करने के पक्ष मे नहीं है। जिसे हम आलोचना की जनवादी परम्परा के रूप मे रेखांकित करना चाहते हैं, उससे उसका दूर का भी नाता नही है। वह दरबारो की मानसिकता से बोझिल, पंडिताई के मोह से आक्रान्त तथा कविता और साहित्य को अभिजात वर्गों की रुचि तक ही सीमित कर देने वाली आलोचना है। कहना न होगा कि आधुनिक युग में नव-जागरण की नई चेतना के आलोक मे जिस हिन्दी आलोचना का जन्म और विकास होता है, वह न केवल साहित्य तथा कविता के बारे मे उपर्युक्त अभिजात वर्गीय संकुचित दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए सामने आती है वरन् उस पर निरन्तर प्रहार करते हुए ही अपना पथ प्रशस्त करती है।

आधुनिक गद्य की अनेक विधाओं की भांति भारतेन्दु बाबू आधुनिक हिन्दी आलोचना के भी पुरस्कर्ता तथा प्रवर्त्तक हैं। यह सच है कि सर्जनात्मक साहित्य की तुलना में उनका आलोचना साहित्य बहुत कम है, परन्तु अपने युग की संक्रान्ति को चित्रित करते हुए और उससे उबरते हुए साहित्य को जिन नई यथार्थ वादी-जनवादी दिशाओं में उन्होंने गतिशील किया, उसे जिस प्रकार साधारण जन के जीवन से और अपने समय के यथार्थ से जोड़ा, उसका स्पष्ट प्रभाव उनके समय में उभरते वाले साहित्य-चिन्तन तथा आलोचना पर भी पड़ा। वे आधुनिक युग के पहले साहित्य चिन्तक हैं जिन्होंने आखें मूंदकर शास्त्रों की बातो को स्वीकार नहीं किया वरन् साहित्य और जन-जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हुए कुछ नई स्थापनाएं दी। 'नाटक' शीर्षक अपने प्रसिद्ध निबन्ध मे उन्होंने लीक से हटते हुए नाट्य रचना के पाँच उद्देश्य निरूपित किए—शृंगार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार तथा देश वत्सलता। इनमें से अंतिम दो तत्त्व उनके अपने मौलिक चिन्तन के परिचायक हैं। इन दो तत्त्वो को संबल लेकर ही हिन्दी नाटक को उन्होंने जीवन

के तथा राष्ट्र और जाति के यथार्थ जीवन से जोड़ा। सच्चे नाटककार की विशेषता बताते हुए उन्होंने कहा कि सच्चा नाटककार वही हो सकता है जिसमें देश और काल के अनुसार मनुष्य के भावो और कार्यों का सहज चित्रण करने की क्षमता हो, जिसे मनुष्यो की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान हो तथा जीवन से जिसका निकट परिचय हो। भारतेन्दु के साहित्य-चिन्तन के ये सूत्र इस बात को प्रमाणित करते हैं कि वे किस प्रकार साहित्य को जीवन के मुख्य प्रवाह से जुड़कर ही गतिशील होते देखना चाहते थे।

भारतेन्दु के लोकाभिमुखी इस साहित्य चिन्तन के सन्दर्भ मे ही आगे चलकर उनके सहयोगी बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को परिभाषित करते हुए उसे जन-समूह के हृदय का विकास कहा। उनके अनुसार, "जिस देश के जो मनुष्य हैं, साहित्य उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है वह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की आलोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।" भट्ट जी के लिए साहित्य कला के लिए न होकर जीवन के लिए है। वे साहित्य का प्रसार जन-जन तक चाहते थे इसीलिए उन्होने साहित्य के अन्तर्गत न केवल लोक भाषा के प्रयोग की बात कही है, लोक साहित्य का समर्थन भी किया है। वे साहित्य मे इस प्रकार के भावो का चित्रण अहेतुक मानते थे जो सहज रूप मे जीवन मे उपलब्ध न हो। जिस युग मे लोग वेदों को ईश्वर की रचना मानते थे, भट्ट जी ने उन्हे मनुष्यकृत कहा। साहित्य मे सहज अभिव्यक्ति पर बल देते हुए उन्होंने जड़ नियमो से जकड़ी रचनाशीलता का विरोध किया। वे कहते हैं—"स्वाभाविक और बनावट मे बड़ा अन्तर होता है। हमारे मन मे जो भावना जिस समय जैसी उठ कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिए गए तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते। इसलिए सुसस्कृत कविता, क्लासिकल पोइट्री अवश्य कृत्रिमता दोषपूरित होगी।" बालकृष्ण भट्ट का यह साहित्य चिन्तन, नि.सन्देह आगे की जनवादी रचनाशीलता तथा आलोचना दृष्टि को प्रेरणा देता है।

हिन्दी आलोचना का सही विकास हमे आगे के द्विवेदी युग में देख पड़ता है। आचार्य द्विवेदी से प्रारम्भ कर हिन्दी आलोचना इस युग मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अपनी व्याप्ति सूचित करती है और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो आयामों पर अपनी खरी जनवादी चिन्ता का प्रमाण देती है।

आचार्य द्विवेदी के बारे मे हिन्दी मे अब तक जो कुछ कहा गया है वह पर्याप्त अधूरा और एकांगी है। हिन्दी के आम पाठक के मन में उनकी जो छवि उतारी

गई है वह एक आदर्शवादी, नीतिवादी आचार्य की छवि है जिसके कठोर नियंत्रण के चलते हिन्दी में इतिवृत्तात्मक शैली की, परम्परा बोझिल कविता का निर्माण हुआ और को जिसकी सबसे बडी देन मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि तथा उनकी कविता है। एक दूसरी छवि उनकी खड़ी बोली को काव्य की भाषा का स्थान दिलाने वाले की है। जाहिर है आचार्य द्विवेदी का यह बहुत ही अधूरा तथा एकांगी परिचय है। आचार्य द्विवेदी को उनकी वास्तविक तथा प्रामाणिक रेखाओं में प्रस्तुत किया है डॉ० रामविलास शर्मा ने, जैसा कि भारतेन्दु, प्रेमचन्द तथा आचार्य शुक्ल को भी उनकी वास्तविकता में पेश करने वाले भी वही हैं। आचार्य द्विवेदी के इस वास्तविक परिचय को हम उनकी 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नव-जागरण' पुस्तक में देख सकते हैं। यह सही है कि आचार्य द्विवेदी को जिस प्रभामण्डल के बीच डॉ० शर्मा ने प्रस्तुत किया है वह आवश्यकता से कुछ अधिक भास्कर हो उठा है, किन्तु आचार्य द्विवेदी के बारे में उन्होंने जो कुछ कहा है उसका सारभूत सत्य यह है कि वे अपने समय के एक विशिष्ट साहित्य चिन्तक ही नहीं समाज चिन्तक भी थे और उनके सरोकारों का दायरा महज साहित्य तक ही व्याप्त न होकर उस सामाजिक जीवन तक फैला था जिसके वे द्रष्टा ही नहीं, व्याख्याता भी थे। वे *परम्परावादी, रूढ़िवादी, नीतिवादी और मर्यादावादी नहीं अपने जमाने के साहित्य* विचारकों तथा समाज चिन्तकों में अग्रणी थे। साहित्य तथा समाज को रूढ़ियों का अतिक्रमण करते हुए वे प्रशस्त दिशाओं में गतिशील होते देखना चाहते थे। डॉ० शर्मा ने कहा है कि आचार्य द्विवेदी को महज भाषा का संस्कार करने वाले *अथवा इतिवृत्तात्मक शैली के प्रणेता के रूप में ही देख, समझ और समझा कर* हम छुट्टी नहीं पा सकते, जरूरत है उनके उस कार्य को देखने की और उसका समुचित मूल्यांकन करते हुए आगे बढ़ाने की, जहां वे एक विशाल जाति के नव-जागरण के प्रेरक और व्याख्याता बनकर सामने आते हैं, रीतिवाद पर प्रहार करते हैं, साम्राज्यवाद, मार्क्सवाद तथा पूंजीवाद के चरित्र का पर्दाफाश करते हैं, तथा सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में एक नई जनवादी-मानवतावादी चेतना का आलोक विकीर्ण करते हैं। आचार्य द्विवेदी के साहित्य चिन्तन, समीक्षा तथा समाज चिन्तन में ऐसे तमाम सूत्र हैं जो आगे को जनवादी साहित्य-चिन्ता की प्रेरणा बनते हैं और उसके विकास में सहायक होते हैं। जिस जनवादी आलोचना के विकास तथा संवर्द्धन में आज की प्रगतिशील पीढ़ी संलग्न है, आचार्य द्विवेदी उसकी एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं, यह बात अब रेखांकित हो जानी चाहिए।

आचार्य द्विवेदी रीतिकालीन तथा रीतिवादी मानसिकता के विपरीत साहित्य तथा काव्य की सार्थकता उसकी सामाजिक सन्दर्भता तथा सार्वजनीनता में मानते हैं। *भाव भी उनके विचार से सार्वजनिक तथा स्वाभाविक होने चाहिए। स्वाभा*-विकता से अपना आशय स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि कविता में कोई ऐसी बात

नहीं कहनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो, जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जिन बातों का होना सम्भव है वही स्वाभाविक हैं। अपने समय के रचनाकारों में उनका आग्रह रहा है कि कविता की सार्वभौमिक प्रकृति को पहचान कर ही वे रचना के पथ पर अग्रसर हों। कविता को द्विवेदी जी ने जहाँ सार्वभौमिक माना है, वहाँ उसकी राष्ट्रीय तथा जातीय प्रकृति को भी पहचाना है। युग सन्दर्भों की खरी पहचान को रचनाकार के लिए आवश्यक बताते हुए आचार्य द्विवेदी ने जिस बात पर सर्वाधिक बल दिया है वह यह कि साहित्य तभी अपने को चरितार्थ कर सकता है जबकि उसके द्वारा जाति तथा समाज का सस्कार हो, अर्थात् वह उन्हें उन्नत करे। जाहिरा तौर पर आचार्य द्विवेदी का यह सारा साहित्य चिन्तन रीतिवादी मानसिकता के विरोध में हमारे सामने आता है। काव्य का एक ध्येय वे मनोरंजन को मानते हैं, किन्तु मनोरजन से उनका तात्पर्य समूचे जन-समाज के मनोरजन से है। केवल कविता के लिए कविता करना उनके लिए महज एक तमाशे से ज्यादा कुछ नहीं है। समग्रतः साहित्य तथा कविता को युग सन्दर्भता पर बल देकर उसे जीवन तथा समाजमुखी बनाने का आग्रह कर उन्होंने अपनी सामाजिक चिन्ता का ही परिचय दिया है। आगे के समाजोन्मुखी साहित्य चिन्तन तथा काव्य-सर्जना के लिए आचार्य द्विवेदी इस प्रकार नई जमीन तैयार करते हैं। कहना न होगा इसी जमीन पर आचार्य शुक्ल तथा प्रेमचन्द अपने साहित्य चिन्तन की बुनियाद रखते हैं और इस बुनियाद पर लोकोन्मुखी आलोचना की जो इमारत उनके द्वारा खड़ी की जाती है और आलोचना का जो रूप उनके माध्यम से सामने आता है, साहित्य तथा कला की अपनी खरी पहचान के अलावा अपनी लोक धर्मिता तथा जन धर्मिता में भी जो समान रूप से तेजस्वी तथा भास्वर है।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा के दो मुख्य आधार स्तम्भ हैं—रस और लोक-मंगल, उनके यहां ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। उनके रस-चिन्तन का वैशिष्ट्य इस बात में है कि उन्होंने रस सम्बन्धी परम्परागत चिन्तन को अपनी सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में पुनर्मूल्यांकित करते हुए ही स्वीकार किया है। आधुनिक युग के वे पहले आचार्य हैं जिन्होंने रस पर चढ़े समस्त प्रकार के अलौकिक आवरणों तथा सारे नियम जाल को छिन्न-भिन्न करते हुए उसे लोक सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया। रस की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उसे लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा कहा। रस के क्षेत्र को मात्र काव्य या साहित्य तक ही सीमित न रखकर उन्होंने उसे जीवन की दूसरी भूमिकाओं से भी जोड़ा और सामान्य जीवन की अनुभूतियों में भी रसात्मकता को स्वीकृति दी। आगे चलकर मुक्तिबोध ने आचार्य शुक्ल के चिन्तन की इसी जमीन से काव्यगत अनुभूति तथा सामान्य जीवनानुभूति में एकात्म की बात की और काव्य तथा जीवन को एक-दूसरे से अलग करने वाली उस मान्यता को भरपूर काट की जो टी० एस०

इलियट की रचनाओं से होते हुए आज के रचनाकार-विचारकों के एक वर्ग की मुख्य साहित्य चिन्ता बनी हुई है। यही नही, आचार्य शुक्ल ने रस की सारी लोकोत्तर व्याख्याओ का खण्डन करते हुए उसे इस लोक के मनुष्य की सम्वेदनाओ से जोडा। ससार को सत्य और यथार्थ मानते हुए उन्होंने इसी लोक के भीतर कविता तथा कला के जन्म और विकास का निरूपण किया। ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार की बात करते हुए उन्होंने काव्य तथा साहित्य मे पाए जाने वाले रहस्यवाद का खण्डन किया और कहा कि "हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत से है। इसी बात के आधार पर सारे ससार मे रस पद्धति चली है और चल सकती है।" अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं—"जो काव्य की अनुशीलन और जनता पर उसके प्रभाव का अन्वीक्षण करते आ रहे हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि कविता जीवन ही से उत्पन्न है और जीवन के भीतर भी अपनी विभूति का प्रकाश करती है। उसे जीवन से विच्छिन्न बताना कहीं की बात कहीं लगाना है।"

दार्शनिको ने जिस ससार को मिथ्या तथा असत्य कहा है। आचार्य शुक्ल उसे न केवल यथार्थ और सत्य कहते हैं, उसे अत्यन्त भरापूरा और सम्पन्न भी मानते हैं। वे ससार को अनन्त रूपात्मक मानते हैं जो न केवल कवि को काव्य की रचना की प्रेरणा देता है उसीमे सम्बद्ध अनुभूतिया साहित्य या काव्य मे स्थान पाती हैं। संसार या इस गोचर जगत के अलावा आचार्य शुक्ल काव्य या कला का कोई अन्य स्रोत नहो स्वीकार करते। बड़े स्पष्ट शब्दों में वे कहते हैं "संसार सागर की रूप तरगो से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप गति से उसके भीतर विविध भावो या मनोविकारो का विधान हुआ है। सौन्दर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएं बाहरी रूपो और व्यापारो से ही निष्पन्न हुई हैं, । हमारे प्रेम भय, आश्चर्य क्रोध करुणा आदि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलंबन बाहर ही के है, इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत ही के हैं। जब हमारी आंखें देखने मे प्रवृत्त रहती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं, जब हमारी वृत्ति अंतर्मुखी होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पडते हैं। बाहर भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही।"

यथार्थ जगत की आचार्य शुक्ल की यह व्याख्या और उनका यह निष्कर्ष कि मन अज्ञात लोक से प्राप्त रूपो और भावनाओं को नही, इसी यथार्थ और गोचर जगत के रूपो और चित्रो को अपने में अंकित करता है और वही कविता में भी आते हैं तथा भाव भी और कुछ न होकर यथार्थ जगत के कार्य व्यापार की मानसिक प्रतिक्रिया हैं, इस तथ्य को निर्भ्रांत रूप मे सामने रखता है कि आचार्य शुक्ल का काव्य चिन्तन यथार्थाभिमुख साहित्य चिन्तन है जिसका भाववादियो की साहित्य चिन्ता से कोई संबंध नहीं है। उनका सारा काव्य चिन्तन लोक जीवन की केन्द्रीयता का ही प्रमाण देता है। आचार्य शुक्ल की लोकोन्मुखी साहित्यचिन्ता का

ही प्रमाण है कि उन्होंने कविता के इर्द गिर्द बनाए गए रहस्य तथा अध्यात्म के छद्म का पर्दाफाश करते हुए कविता की स्वस्थ प्रसन्न, लोकजीवन की अनुभूतियो मे सपन्न आकृति से ही हमारा परिचय कराया है। हम उनके रहस्यवाद विरोध की बात कर चुके हैं जिसका मूलाधार भी उनका लोकोन्मुख बौद्धिक चिन्तन है। लोकोत्तर अनुभूतियो को सामने लाने का दावा करने वाले, अनत और असीम का संधान करने वाले काव्य को आचार्य शुक्ल बनावटी काव्य मानते हैं। ऐसे काव्य और उसके रचयिताओ पर वे व्यग्य करते हुए कहते हैं। —"अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर जगत और अज्ञात के प्रेम मे आसुओ की आकाशगगा मे तैरने, हृदय की नसो का सितार बजाने, प्रियतम असीम के सग नग्न प्रलय सा ताडव करने या मुदे नयन पलको के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही, भी तक तो कोई हर्ज न था, कविता कहना कहा तक ठीक है। चारो ओर से बेदखल होकर छोटे छोटे कनकौवो पर भला कविता कब तक टिक सकती है। ये आचार्य शुक्ल ही हैं जो साहस के साथ यह कह सके हैं कि "अध्यात्म शब्द की मेरी समझ मे काव्य या कला के क्षेत्र मे कोई जरूरत नहीं है।"

आचार्य शुक्ल के काव्य चिन्तन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता उनका कविता को जीवन की समग्रता से जोडकर देखना है। कर्म क्षेत्र के उपासक शुक्ल जी ने भावों को मानवीय कर्मों से पृथक करके नही देखा। प्राचीन आचार्यों के विपरीत उन्होंने आनंद को काव्य का साध्य न मानकर साधन ही माना है। कविता की वास्तविक चरितार्थता वे क्रम की उत्तेजना मे मानते हैं और कर्म की यह उत्तेजना लोक मंगल के संदर्भ मे ही सार्थक होती है। लोक मगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था की चर्चा करते हुए उन्होंने कविता का वास्तविक उत्कर्ष उन कवियो मे देखा है जो लोकमगल की साधनावस्था के कवि हैं और अपने नायको के चरित्र का उत्कर्ष उनके कर्म सौन्दर्य मे अन्याय के खिलाफ छेड़े गए उनके अभियानो मे दिखाते हैं। यहां आचार्य शुक्ल तोल्सतोय और गाधी जैसे शाति, क्षमा तथा दया के वकीलो से भिन्न हैं, कारण उनके अनुसार "बहुत दूर तक और बहुत समय तक एक अत्याचारी का समाज में बने रहना लोक की क्षमा की सीमा है। इसके आगे क्षमा नही कायरता ही सामने आयेगी।" अतएव जो महज शाति, प्रेम और दया का ही नाम लेते हैं वे आचार्य शुक्ल के व्यग्य का लक्ष्य बनते हैं। वे कहते हैं, "मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य कला की पूरी रमणीयता इन दोनो पक्षो के समन्वय के बीच मगल या सौन्दर्य के विकास मे दिखाई देती है।"

आचार्य शुक्ल हिन्दी के पहले समीक्षक हैं जिन्होंने कविता व्यक्तिवाद, चमत्कारवाद, कोरी अभिव्यजना तथा कोरी कारीगरी का दृढतापूर्वक विरोध

किया है। रीतिवाद तथा रीतिकालीन मानसिकता पर उनके प्रहार कठोर तथा लक्ष्य को तिलमिला देने वाले हैं। वस्तुतः कविता को भावयोग कहने वाले, उसे लोकहृदय की सात्विक तथा खरी पहचान से जोड़ने वाले, उसे व्यक्ति को उसके स्वार्थ-सम्बन्धो से ऊँचे उठाते हुए मनुष्यत्व की सबसे ऊँची कक्षा पर ले जाने वाली सजीव भाव प्रतिमा के रूप मे व्याख्यायित करने वाले आचार्य का यह रीति वादतथा कलावाद विरोध सहज और स्वाभाविक ही माना जाएगा। अपनी काव्य सबंधी इन लोकपरक जनवादी आस्थाओ के चलते ही आचार्य शुक्ल ने पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्री क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की खरी आलोचना की है। इसी जमीन से उन्होंने हिन्दी की रीतिकालीन शृगारी तथा चमत्कारी कविता एव उर्दू फारसी की तर्जेबयां को प्रधानता देने वाली सतही शेरों-शायरी का भी दृढता के साथ खण्डन किया है। कविता को मनोरजन करने वाला मानते हुए भी वे उसे वाहवाही के स्तर पर पहुँचा देने वाली मानसिकता के सख्त खिलाफ थे तथा कविता जैसी मानवीय अनुभूति से प्रेरित भावसत्ता को महज कारीगरी तक सीमित कर देने वाली चेष्टाओं के भी उतने ही विरोधी थे। इसे हिन्दी समीक्षा को आचार्य शुक्ल का सबसे महत प्रदेय मानना चाहिए कि उन्होंने हमे अच्छी और बुरी कविता मे फर्क कर सकने वाला विवेक दिया तथा कविता के उस चरित्र को हमारे समक्ष अपनी सारी गरिमा के साथ रखा जो लोक की महती आकाक्षाओ] से परिपुष्ट, उदात्त मानवीय मूल्यो से मडित तथा लोकजीवन के सौन्दर्य से भास्वर उसका सही चरित्र था। इसे आचार्य शुक्ल का ही प्रदेय माना जाना चाहिए कि हिन्दी में रीतिवादी कलावादी मानसिकता कभी भी काव्य समीक्षा के संदर्भ में सम्मान्य नही बन सकी।

जीवन मे क्षात्र धर्म के उपासक, लोक मगल को काव्य का वास्तविक प्रयोजन स्वीकार कर अपने काव्य चिन्तन को एक ठोस वैज्ञानिक और बुद्धिवादी चरित्र प्रदान करने वाले आचार्य शुक्ल हिंदी के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने नाना प्रकार के व्यक्तिवादी अभिव्यक्तिवादी भ्रमजालो को चीरते हुए साहित्य और काव्य को उसकी सही सामाजिक संदर्भता प्रदान की। कविता के अन्तरंग का जितना मार्मिक-विवेचन विश्लेषण उन्होंने किया उसके बहिरंग और उसके सामाजिक प्रभाव पर भी उतनी ही ठोस चर्चा उन्होंने की। उनके समूचे काव्यचिन्तन का केन्द्रीय स्वर लोकजीवन के साथ काव्य की अभिन्नता ही है। इस भूमि पर दृढ़ता के साथ खड़े रहकर उन्होंने किसी भी स्तर पर समझौता नहीं किया। संसार की यथार्थ और वस्तुगत सत्ता को अपनी संपूर्ण स्वीकृति देते हुए उन्होंने उसी के भीतर कविता के विकास और उत्कर्ष की अनेक दिशाओ का संधान किया और ऐसे हर विचार पर कड़ी चोट की जो काव्य को लोक तथा जन के जीवन से विच्छिन्न कर अलौकिक, अव्यक्त और असामाजिक के बियाबान में गुमराह कर देने की गरज से

सामने आया हो। उनके काव्यचिन्तन और उनकी समीक्षा की यही सार्थकता है और अपनी इसी ठोस वस्तुवादी जमीन पर वह आगे की जनवादी आलोचना की विरासत है।

हिन्दी की जनवादी आलोचना के पुरस्कर्ताओं में इसी क्रम मे हम प्रेमचन्द की कुछ चर्चा करना चाहेंगे। हिन्दी तथा साहित्य को एक जनवादी चरित्र देने तथा उसे जन की आकांक्षाओं के अनुरूप विकसित करने मे तो वे अग्रणी हैं ही, हिन्दी आलोचना को जनवाद की ओर उन्मुख करने तथा सर्जना की श्रेष्ठता के नए प्रतिमान देने की दृष्टि से भी उनका महत्त्व असंदिग्ध है। इस क्रम में उनके प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण का तो उल्लेख तो आवश्यक है ही जिसके अन्तर्गत उन्होंने सौन्दर्य की नई कसौटी तथा कृति की मूल्यवत्ता के नए प्रतिमानों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए आलोचना के नए जनवादी मानों को सामने रखा, इस क्रम मे हम उनके उन पूर्ववर्ती तमाम लेखों और निबंधों का हवाला भी देना चाहेंगे जो उन्होंने कहानी, उपन्यास तथा छोटी-छोटी टिप्पणियों के रूप मे कविता पर लिखे हैं और जिन्हें उनकी गद्य पुस्तकों तथा उनके द्वारा संपादित मर्यादा और हंस जैसी पत्रिकाओं मे देखा जा सकता है। मुंशी प्रेमचन्द का यह कार्य इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने केवल सिद्धान्तों का ही निरूपण नहीं किया अपनी सर्जना को उनके अनुरूप प्रस्तुत भी किया। कहना न होगा सर्जना की भाँति प्रेमचन्द का आलोचनात्मक चिन्तन भी साहित्य मे जनवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए चल रहे हमारे संघर्ष मे हमारा बहुत बड़ा संबल है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के चिन्तन तथा आलोचना दृष्टि पर भी हम इस क्रम में कुछ कहना चाहेंगे क्योंकि हमारा विचार है कि प्रगतिशील हलकों मे प्राय उसे या तो पूर्वाग्रह से युक्त करके देखा गया है या बिना उसकी तफसील मे गए कुछ दूसरे लोगों के मंतव्यों के आधार पर ही उसपर रायजनी कर दी गई है। जाहिर है कि स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्य दृष्टि तथा जीवन के मूल्यों से जुड़े आचार्य वाजपेयी उस रूप मे जनवादी आलोचना से नहीं जुड़ते जिस रूप मे आचार्य शुक्ल या प्रेमचन्द उससे जुड़े हुए हैं, किन्तु आचार्य वाजपेयी की समीक्षादृष्टि तथा चिन्तन मे ऐसे बहुत से सूत्र हैं जो उन्हें एक स्तर पर आचार्य शुक्ल की परम्परा से जोड़ते हैं दूसरे स्तर पर जनवादी चिन्ता धारा के निकट लाते हैं। आचार्य वाजपेयी का कभी प्रेमचन्द से कुछेक मुद्दों को लेकर विवाद हुआ था, उस विवाद को प्रमुखता देकर उन मुद्दों तथा स्वत. प्रेमचन्द के बारे मे उनकी परवर्ती चिन्तना को नजरंदाज कर अगर हम वाजपेयीजी के बारे मे कोई भी राय देंगे तो वह प्रामाणिक राय नहीं होगी। आचार्य वाजपेयी जनवादी आलोचना से अथवा आलोचना के समाजसापेक्ष रूप से जुड़ते हैं अपने साम्राज्यवाद विरोधी रुख के नाते, अपनी राष्ट्रीयतावादी मानसिकता के नाते, साहित्य और सामाजिक जीवन

चिन्ताधारा जिसका अपने विवेचन में हमने उल्लेख किया है।

जनवादी आलोचना के लिए परम्परा का मूल्यांकन एक अनिवार्य चिन्ता है। परम्परा का मूल्यांकन करते हुए जनवादी आलोचना उसके जीवंत पक्षों से अपने को जोड़ती है तथा उसका आगे और भी विस्तार करती है। जनवादी आलोचना का आज जो रूप है उसमें परम्परा के इस जीवंत अंश को नई सम्पन्नता के साथ पहचाना जा सकता है। भारतेन्दु से लेकर आचार्य द्विवेदी तक हिन्दी आलोचना के जनवादी आधार को इस लेख में इसी नाते रेखांकित किया गया है ताकि हम उसे अपनी चिन्ता का अंग बनाते हुए अपने को अधिक शक्तिसम्पन्न अनुभव कर सकें।

मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएं : हिन्दी आलोचना के सन्दर्भ में

हिन्दी मे मार्क्सवादी आलोचना की शुरुआत बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक मे भारतीय जीवन मे, खासतौर से साहित्य और कला क्षेत्र मे मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार के साथ हुई और तब से लेकर अद्यावधि वह न केवल विकासशील है, साहित्य की व्याख्या तथा मूल्यांकन की दूसरी विचार-सरणियो की तुलना मे साहित्य और कला की सौन्दर्य सत्ता, के उद्घाटन उसके सामाजिक आधारो की पड़ताल उसके सामाजिक प्रभाव के आकलन, कुल मिलाकर साहित्य की परख तथा उसके समग्र मूल्यांकन मे अधिक प्रभावी और कारगर भी है। बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि अपनी कुछेक सीमाओ और अपने साथ जुड़ी समस्याओं के बावजूद, जिनका व्याख्यान ही प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य है, आधुनिक हिन्दी आलोचना का सबसे तेजस्वी अंश इस मार्क्सवादी आलोचना मे ही देखा जा सकता है।

जाहिर है कि मार्क्सवादी आलोचना के मूल मे साहित्य और कला को देखने-परखने और उसे व्याख्यायित तथा विश्लेषित करने वाले मार्क्सवादी दृष्टिकोण की स्थिति है और यह दृष्टिकोण समाज तथा जीवन-सम्बन्धी मार्क्सवाद की बुनियादी अवधारणाओ पर अवस्थित है। समाज तथा जीवन को देखने-समझने का दावा करने वाली दूसरी तमाम जीवन दृष्टियाँ और विचारधाराएं भी हैं किन्तु उनकी तुलना मे मार्क्सवाद का वैशिष्ट्य इस बात मे है कि मार्क्सवाद एक समग्र जीवन दृष्टि है और मानव जीवन का शायद ही कोई पहलू हो जो उसकी अतग्रथित समग्रता का अग न हो। अपने द्वन्द्वात्मक वैज्ञानिक नजरिए के ही नाते मार्क्सवाद जहाँ सृष्टि तथा समाज विकास के सामान्य नियमो की पड़ताल करता हुआ सामाजिक जीवन के पुनर्निर्माण हेतु दिशा-निर्देश देता है वहाँ सामाजिक जीवन के इस रूपान्तरण मे कार्य कर रही शक्तियो के अपने अतर्विरोधो और अन्तः क्रियाओं को उद्घाटित करता हुआ उनके पारस्परिक सम्बन्धों का खुलासा भी

करता है, फलत: मानव के सारे क्रिया कलाप अलग-थलग न लगते हुए एक-दूसरे से जुड़े हुए और सामाजिक जीवन के पुनर्निर्माण में सापेक्ष रूप से अपना विशिष्ट योगदान देते हुए सामने आते हैं। इसी बिन्दु पर साहित्य और कलाएं भी जिन्दगी के दीगर सरोकारों से अलग-थलग न दिखाई पड़कर अपनी विशिष्टता में भी उसका अंग बनकर सामने आती हैं और इस प्रकार अपने सामाजिक आधार को कायम रखे रहती हैं, मानवीय क्रियात्मकता का मानवीय सृजनशील का हिस्सा बनी रहती हैं। साहित्य और कला सम्बन्धी यह समझ चूंकि दूसरी विचार सरणियां हमें नहीं दे पाती फलत. उनके यहां साहित्य और कलाएं अपने सामाजिक आधार तथा मानव जीवन के दूसरे अहम सरोकारों से विच्छिन्न मानवीय सृजनशीलता से कटकर या तो दैवी इयत्ताएं बन जाती हैं या अपनी सामाजिक असपृक्तता के नाते समाज विरोधी और जीवन विरोधी रुख ग्रहण करने लगती हैं। बहरहाल, साहित्य और कला-सम्बन्धी मार्क्सवादी नजरिया न केवल एक वैज्ञानिक नजरिया है, वह साहित्य और कला की समझ तथा विश्लेषण का एक संपूर्ण नजरिया भी है, जिसका सम्यक उपयोग करके साहित्य और कलाओं को उनकी संपूर्ण क्षमताओं के साथ मनुष्य की एक बुनियादी जरूरत के रूप में जाना-परखा और समझा जा सकता है।

हमने ऊपर हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना की कुछेक सीमाओं और समस्याओं के बारे में संकेत किया है। उपलब्धियों की चर्चा न करके हम अपने को इन समस्याओं पर ही केन्द्रित रखना चाहेंगे, कारण हिन्दी आलोचना के सबसे तेजस्वी अंश के रूप में उसका भविष्य इन समस्याओं से रूबरू होने और उनके समाधान की दिशा में ईमानदारी तथा समझदारी के साथ कोशिश करने और उनका हल पाने पर निर्भर करता है। प्रत्येक जीवंत और विकासशील दृष्टिकोण अपने साथ समस्याओं को भी लाता है और उसी के अंतर्गत उनसे निपटने की दृष्टि भी निहित होती है। जहां तक मार्क्सवादी आलोचना का सवाल है हिन्दी में अथवा दीगर भाषाओं में अपने उद्भव के साथ वह इन समस्याओं से भी जूझती और निपटती रही है अतएव जहां हम समस्याओं के प्रति और उनसे निपटने के प्रति निहायत गम्भीर रुख के हामी हैं, वहां हम उनसे आतंकित होने के कतई हामी नहीं हैं। समस्याओं की उपस्थिति को हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण तथा साहित्य और कला के बारे में उसकी व्याख्याओं तथा निर्णयों के प्रति रचनाकारों और विचारकों की बेइन्तिहा दिलचस्पी बदलती हुई परिस्थितियों में उनका सार्थक तथा कारगर तरीके से उपयोग करने की कोशिशों, और जीवन ही नहीं, साहित्य और कला संबंधी एक-एक समग्र ताजा तथा विकासशील दृष्टिकोण बनाए रखने की उनकी सक्रिय तथा ईमानदार चिन्ता के रूप में देखते हैं। अस्तु—

बहुत पहले गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'समीक्षा की समस्याएं' शीर्षक एक बड़ा निबंध लिखकर मार्क्सवादी आलोचकों को उनकी सीमाओं से अवगत कराया था तथा उन्हें उन सीमाओं से उबरने के, उनके फलस्वरूप उत्पन्न समस्याओं से जूझने और निपटने के कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत दिए थे। मार्क्सवादी समीक्षकों और उनके कार्य की मुक्तिबोध द्वारा की गई यह आलोचना किसी मार्क्सवाद-विरोधी की आलोचना न होकर एक ऐसे रचनाकार विचारक की आलोचना थी जो स्वयं मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि से भीतर तक जुड़ा हुआ था और चाहता था कि मार्क्सवादी आलोचना साहित्य तथा कला की परख का एक सम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्र प्रस्तुत करते हुए हिन्दी आलोचना जगत तथा रचनाकारों के बीच अपनी उस साख को कायम रख सके जो अपनी तमाम सीमाओं के चलते उसने खो दी है और जिसकी वह वास्तविक मायने में हकदार है। गोकि मुक्तिबोध की बातें उनके अपने समय की स्थितियों से संबंधित थीं और तब से लेकर अब तक उनके द्वारा उठाए गए तमाम सवाल हल हो चुके हैं, उनकी अनेक अपेक्षाओं की पूर्ति भी हो चुकी है परन्तु फिर भी मुक्तिबोध की आलोचना के मूलवर्ती मुद्दे अभी भी कायम हैं और उनसे सही ढंग से निपटना अभी भी बाकी है। कहने का मतलब यह कि मार्क्सवादी आलोचना के सामने अभी भी समस्याओं की चुनौती है। देखना है कि वे समस्याएँ क्या हैं और उनसे निपटने के हमारे प्रयासों में कहाँ तक उस प्रकार की सजीदगी, मेहनत, निष्ठा तथा समझदारी है, जैसा कि मुक्तिबोध चाहते थे, या कि मार्क्सवादी दृष्टि से जुड़ा हुआ कोई भी सजीदा रचनाकार-विचारक समीक्षक चाह सकता है।

मार्क्सवादी आलोचना के पीछे चूंकि जीवन समाज तथा साहित्य और कलाओं की उनकी सापेक्षता में देखने और व्याख्यायित करने का मार्क्सवादी नजरिया है अतएव मूलवर्ती मुद्दा इस मार्क्सवादी नजरिये को सही रूप में उसके वास्तविक आशय के साथ समझने तथा साहित्य और कला के विवेचन में लागू करने का है। जाहिर है कि हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना हो या अन्य देशी-विदेशी भाषाओं की आलोचना, हर जगह जो सवाल सबसे अहम समस्या के रूप में उभरा है वह मार्क्सवादी दृष्टि की सही तथा खरी पहचान का है। दावा सब उसे सही रूप में पहचानने का करते हैं परन्तु उसे सही रूप में न पहचान पाने और न लागू कर पाने का ही नतीजा है कि जिसे मार्क्सवादी शताब्दी में संशोधनवाद या संकीर्णतावाद कहा जाता है, और जो दोनों ही गैर-मार्क्सवादी हैं, वे उभर उठते हैं और सारे निष्कर्षों को अधूरा, एकांगी, सतही और गैर-मार्क्सवादी बना देते हैं। मार्क्सवादी आलोचना ही नहीं, मार्क्सवादी विचार-दर्शन भी अपने उद्भव के साथ इन खतरों से जूझता रहा है और आज तक जूझ रहा है। जब दृष्टिकोण को समझने में ही

बुनियादी भ्रांतियाँ हों तो निष्कर्षों का गलत होना, अलग-अलग होना, परस्पर विरोधी होना स्वाभाविक है। बहुधा ही जो देखने में आता है कि किसी एक मुद्दे पर तमाम मार्क्सवादी विचारक ही एकमत नहीं हो पाते और परस्पर विरोधी तथा विपरीत निष्कर्ष देते हैं, उसका कारण मार्क्सवादी दृष्टिकोण की उनकी यह गलत, एकांगी तथा अधूरी समझ ही है। अधिक दूर न जाएँ तो हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में और हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों के बीच इस प्रकार की अनेक स्थितियाँ हमारे देखने में आई हैं और आती हैं। जब एक ही विचार की बुनियाद पर हम किसी मुद्दे पर विचार कर रहे हैं तो हमारे निष्कर्षों में यह विरोध और वैपरीत्य क्यों? इस विरोध और वैपरीत्य पर यदि सही नीयत से हम विचार करें और आपस में एक दूसरे की सापेक्षता में अपनी दृष्टि का जायजा लें, अपनी मूलवर्ती दृष्टि को आपसी चर्चा के बीच सही ढंग से पहचानने और लागू करने की नीयत रखें तथा उसके लिए प्रयास करें, अपनी सोच को ही एक मात्र सही न मानकर दूसरे साथियों की सोच एवं निष्ठा पर भरोसा करें तथा विरोध और वैपरीत्य के कारणों को समझकर बिना किसी भी प्रकार की व्यक्तिवादी रुझान और अहंकार के अपने निष्कर्षों तथा अपनी सोच में फेरबदल करने के लिए तैयार रहें जो कि सही मार्क्सवादी नजरिया है, तो फिर समस्या उतनी समस्या नहीं रह जाएगी, तथा सही बात भी सामने आ सकेगी तथा हमारी अपनी समीक्षा दृष्टि ही नहीं, हमारी आलोचना भी ताकत पा सकेगी, परन्तु दुर्भाग्य यह कि ऐसा हम शायद नहीं कर पा रहे। पिछले अनुभवों से सोचकर भी नहीं कर पा रहे और जो सिलसिला एक बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण पालिमिक्सका, मार्क्सवादी आलोचना के प्रारंभिक दौर में चला था और जिसमें आज के अनेक नामी-गिरामी मार्क्सवादी आलोचक शरीक थे, पालिमिक्स का यह सिलसिला आज भी चल रहा है। विरोधियों की बात जाने दीजिए, एक ही दृष्टिकोण से जुड़े लोग आपस में एक-दूसरे की विरोधियों से भी अधिक पैनी तथा घातक आलोचना कर रहे हैं, और गलतियों को मानना तो दूर अपने अहंकार में और अपनी व्यक्तिवादिता के चलते हम अपनी गलतियों को उचित बताते हुए उन्हें ही सही मार्क्सवादी नजरिए के रूप में पेश कर रहे हैं। यह बात जितनी राजनीतिक क्षेत्र में लागू होती है, उससे कम साहित्य और कला विवेचन के क्षेत्र में लागू नहीं होती। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना को साहित्य और कला विवेचन की सबसे धारदार आलोचना मानने वाला हिन्दी का सामान्य प्रबुद्ध पाठक, युवा रचनाकार समीक्षक अगर इस स्थिति से खिन्न, परेशान दिग्भ्रमित और हतोत्साहित न हो, 'किसकी बात सही है' जैसी द्विविधा में न पड़े तो आश्चर्य क्या। हम पहले ही कह चुके हैं एक जीवंत दृष्टि और उससे जुड़े लोगों के बीच मतभेदों का होना कतई गलत नहीं है, इससे दृष्टि और सोच दोनों ही साफ होती है और दृष्टिकोण की जीवंतता का प्रमाण मिलता है परन्तु इस

सिलसिले की आखिर एक हद होती है, बात को किसी बिन्दु पर आकर तो विराना चाहिए और यदि बहस का सिलसिला ही चलना हो तो उसे सही नीयत से, सही निष्कर्षों तक पहुँचने की सही नीयत से चलना चाहिए। यह स्थिति चूंकि नहीं है, अतएव उस पर लिखना लाजिमी हो जाता है।

जिस समय हमारे आज के बुजुर्ग समीक्षक आपसी 'पालिमिक्स' में उलझे थे उस समय मार्क्सवादी कला-विवेचन का रूप बहुत साफ नहीं था। मार्क्सवादी विचार की व्याख्याओं में तत्कालीन कट्टरता का प्रभाव कला-विवेचन पर भी पड़ा था फलतः सिद्धान्त और व्यवहार दोनों आयामों पर हिन्दी में परंपरा का विश्लेषण हो, अथवा समकालीन कला तथा साहित्य सर्जना का विश्लेषण वह कट्टरता काफी कुछ आ गई थी और उसके फलस्वरूप पालिमिक्स का रूप भी बना था। बहुत से सवाल उभरे थे जिनके समाधान का रास्ता नहीं निकल पाता था। विचार दर्शन की जड़ व्याख्या के नाते, विवेचना दृष्टि की यान्त्रिकता अथवा सरलीकरण के नाते जो कुछ निष्कर्ष सामने आए थे वे समस्याओं के समाधान के बजाय उन्हें उलझाने वाले ही थे। हम इन सारी बातों की तफसील में जाकर निबंध के कलेवर को बढ़ाना नहीं चाहते, महज इतना याद दिलाना चाहते हैं कि मार्क्सवादी आलोचना के इस प्रारंभिक दौर में दृष्टिगत संकीर्णतावाद तथा संशोधनवाद दोनों के खतरे सामने आ चुके थे और जो आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं।

संकीर्णतावाद हो अथवा संशोधनवाद, हम कह चुके हैं कि ये दोनों ही गैर-मार्क्सवादी रुझानें हैं। सामाजिक, राजनीतिक जीवन की व्याख्या हो अथवा साहित्यिक कलात्मक सर्जना की व्याख्या, ये रुझानें तभी उभरती हैं जब हम मार्क्स-वाद की बुनियादी स्थापनाओं को उनसे संबद्ध दूसरे मुद्दों से अलग-अलग कर उनकी निरपेक्षता में, अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का आरोप करते हुए व्याख्यायित और विश्लेषित करते हैं, यह भूल जाते हैं कि ठोस वस्तुगत संदर्भों में ही उनकी व्याख्या की जानी चाहिए और उन्हें जीवन समाज या साहित्य पर लागू किया जाना चाहिए। फिर सवाल विचार-दर्शन को भी उसके वास्तविक आशयों में पहचानने का है। उसे एक जीवित और गतिशील दर्शन के रूप में स्वीकार करने का है, ठोस वस्तुगत परिस्थितियों के प्रति पूरी तरह सजग रहते हुए उसकी व्याख्या तथा विवेचन का है। हम यह जानते हैं कि मार्क्सवाद के संस्थापकों ने हर स्थल पर अपनी स्थापनाओं का विशदीकरण नहीं किया है, दीगर व्यस्तताओं के नाते वे ऐसा नहीं कर पाते हैं। साथ ही अनेक स्थापनाओं का विशदीकरण उन्होंने अपने एकाधिक ग्रंथों में किया है, और वस्तुगत परिस्थितियों तथा नए तथ्यों के संदर्भ में अपनी पूर्ववर्ती स्थापनाओं को संशोधित-परिवर्धित भी किया है। ऐसी हालत में जरूरी हो जाता है कि एक ही स्थान में व्यक्त उनके विचारों को एक मात्र विचार न मानकर हम दूसरी जगहों में उसी विचार पर उनकी टिप्पणी को

भी समान महत्त्व और मुख्यता के साथ देखें और तब उस विचार या स्थापना के बारे में उनके वास्तविक निष्कर्ष का निर्णय करें। यह काम गम्भीर तथा विशद अध्ययन की अपेक्षा रखता है अन्यथा गलतियाँ और भटकाव स्वाभाविक हैं। संकीर्णतावाद तथा संशोधनवादी चिन्तन का एक कारण यह भी है। राजनीतिक सामाजिक जीवन की व्याख्या हो अथवा साहित्य और कला की व्याख्या दोनों जगहों पर उपर्युक्त प्रवृत्तियों को अपने दुष्परिणामों के साथ देखा जा सकता है। बनी-बनाई मनःस्थिति लेकर साहित्य और कला का परीक्षण करना बजाय इसके कि साहित्य और कलाकृति को तटस्थ भाव से पढ़कर और गुनकर तब यह देखने का प्रयास करना कि मार्क्सवादी विचारधारा के आलोक में वह किन आयामों पर अपने को खोलती है और हमें विचार या विवेचन के नए आयाम देती है, जैसाकि रामविलास शर्मा ने कहा है संकीर्णतावाद तथा संशोधनवाद का एक उत्स है। कलाकृति की वास्तविक रचना-संदर्भो, जीवन-संदर्भो, रचनाकाल आदि से काटकर अपने समय की मानसिकता को लेकर अपने समय के जीवन संदर्भों में परखने का प्रयास करना और अपनी दृष्टि का उसपर ऊपर से आरोप करना और उसपर निर्णय देना भी गलत बात है। कला या साहित्य-कृति को उसमें निहित अन्तर्विरोधों के मध्य न देखकर, उसकी समग्रता में न देखकर, कुछेक पहलुओं या अनुकूल मानसिकता में ढालकर देखने का प्रयास करना और उसके आधार पर उसके बारे में निर्णय लेना एक दूसरी गैर-मार्क्सवादी कोशिश है, अधूरे एकांगी तथा गलत निष्कर्ष तक पहुंचाने वाली कोशिश जिसके प्रचुर प्रमाण हमें मार्क्सवादी आलोचना के प्रारंभ से लेकर आज तक मिलते हैं। मैं खास नाम नहीं ले रहा, किन्तु मार्क्सवादी आलोचना तथा मार्क्सवादी विचार दर्शन से जुड़े रचनाकारों, पाठकों के लिए ये स्थितियाँ परिचित स्थितियाँ हैं। उन्हें विशद करने की जरूरत नहीं है।

'समीक्षा की समस्याएँ' शीर्षक अपने निबंध में गजानन माधव मुक्तिबोध ने लिखा है—"वे काव्य को अपने सिद्धान्तों के उदाहरण के रूप में देखना चाहते हैं। चूंकि यह नहीं हो पाता इसलिए वे बिगड़ पड़ते हैं। महत्त्व की बात यह है कि अपने सिद्धान्तों के टावर पर से नीचे उतरकर वास्तव मानव यथार्थ और उसकी काव्यात्मक प्रतिक्रियाओं के संपर्क स्थापित करना और निरपेक्षभाव से उसके स्वरूप का अध्ययन करना नहीं चाहते।...मार्क्सवादी दर्शन एक यथार्थ दर्शन है, यथार्थ विकास का, मानव संज्ञा के विकास का दर्शन है। अतएव उसके लिए सर्वाधिक मूलभूत और महत्त्वपूर्ण हैं जीवन तथ्यों की वास्तविकता जो राजनीति, समाज-नीति, कला आदि को उपस्थित करती है। जीवन तथ्यों की वास्तविकता अर्थात मानव यथार्थ को दृष्टि से ओझल करके जब सिद्धान्तों को लागू किया जाता है, तब भूल होना स्वाभाविक होता है।"

हम कह चुके हैं कि एक लम्बे समय तक, कमोवेश आज भी, मार्क्सवादी समीक्षा का एक अंश अपने कर्ताओं की इस मानव यथार्थ विमुखता और वैयक्तिक ढंग से कलाकृति पर सिद्धान्तों के आरोपण की कमजोरी से ग्रस्त है, फलतः कला कृति या साहित्य कृति की समग्र मूल्यवत्ता हमारे लिए सुलभ नहीं हो पाती। सवाल यहाँ दृष्टि या दृष्टिकोण के विसर्जन का नहीं, उसे रचना सापेक्ष बनाने का, वास्तविक रचना संदर्भों तथा उसके जीवन संदर्भों की यथार्थ पहचान के बीच उसे रचना के समग्र मूल्यांकन मे लागू करने का है।

परंपरा के मूल्यांकन तथा समकालीन सर्जना के प्रति मार्क्सवादी समालोचना के लगाव की बात पर हम विशेष रूप से कुछ कहना चाहेंगे, कारण सिद्धान्त चर्चा से जुड़े सवाल किसी समालोचना की अच्छी बुरी छवि के निर्णायक, कम से कम आम प्रचलन मे, उतना नही बनते जितना उस समालोचना की व्यावहारिक प्रस्तुति बनती हैं, बावजूद इस तथ्य के कि यह व्यावहारिक प्रस्तुति उन सिद्धान्तो से ही प्रेरित होती है। मार्क्सवादी समालोचना के सामने हमेशा उसकी व्यावहारिक प्रस्तुति एक चुनौती के रूप मे विद्यमान रही है और उसके बारे मे सही रूप मे अथवा अज्ञान या अपरिचय के नाते अथवा जानबूझ कर भी जो तमाम बातें कही गई हैं या कही जा रही हैं उनका सम्बन्ध सिद्धान्तो से होते हुए भी मूलतः उसकी व्यावहारिक प्रस्तुति से ही रहा है। अस्तु —

सबसे पहले परंपरा के मूल्यांकन के सवाल को ले। अतीत के प्रेत के आतंक से मुक्ति की बात करते हुए भी परंपरा के महत्त्व और मूल्यवत्ता को लेकर मार्क्सवाद के संस्थापकों का नजरिया बहुत साफ और सुलझा हुआ रहा है। मार्क्सवाद की इतिहास दृष्टि ने इस मुद्दे पर किसी भी प्रकार के भ्रम को पनपने की गुंजाइश नही छोडी है। स्वयं मार्क्सवाद के संस्थापकों ने परंपरागत साहित्य तथा कला के मूल्यांकन मे जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे भी अपने मे एक मिसाल हैं मसलन ग्रीक कला के बारे मे, शेक्सपियर, बालजक, पुश्किन आदि-आदि के बारे मे अपनी राय प्रस्तुत करते हुए उन्होने बहुत साफ तौर से स्पष्ट कर दिया है कि परंपरा के मूल्यांकन को लेकर हमारा नजरिया क्या होना चाहिए, परन्तु बावजूद इस सबके हमसे गलतियाँ हुई हैं, पहले भी और आज भी और हम अब भी इस सवाल से मुखातिब हैं।

परंपरा के मूल्यांकन का मार्क्सवादी नजरिया परंपरा के प्रति पूज्य भाव का न होकर विवेक सम्मत आलोचनात्मक रुख की हिमायत करने वाला है और यह विवेक हमे मार्क्सवाद की इतिहास दृष्टि से प्राप्त होता है। निषेध के निषेध की मार्क्सवादी अवधारणा के तहत परंपरा के जीवंत तत्त्व आगे की कड़ी मे मिलते हैं और उसके मरणोन्मुखी तत्त्वों का क्षय होता है। मार्क्सवाद का यह नजरिया

में होने वाली अभिव्यक्ति के बीच से पहचानने पर बल देता है और इसी क्रम में परंपरा के मरणोन्मुखी तथा जीवंत तत्त्वों की पहचान होती है तथा सर्जना की मूल्यवत्ता की अपनी परख भी। यहाँ पर द्वन्द्वात्मक दृष्टि ही हमें सरलीकरण तथा यांत्रिकता से बचाती है। किसी विशेष युग की रचना या रचनाकार के बारे में हम रायजनी उसके युग तथा उसकी रचना की अंतर्विरोधी वास्तविकता के बीच से ही करते हैं और उसकी समग्रता में करते हैं। अब देखिए इस दृष्टि की व्यावहारिक प्रस्तुति में होने वाली हमारी गलतियों कोकि हमने या तो गोस्वामी तुलसीदास को इस नाते कि वे सामंती समाज की उपज हैं, सामंती युग की अधिरचना से जुड़े हुए हैं, अपने समय के समाज के, प्रभु वर्ग की विचारधारा के प्रतिनिधि हैं, हमने शत-प्रतिशत प्रतिगामी करार दिया या फिर उनकी जन सपृक्ति के कारण, सामंती समाज के अंतर्विरोधों से टकराते हुए उनके जहाँ तहाँ उसका अतिक्रमण करने के कारण और भक्ति आन्दोलन की मुख्य धारा से जुड़े उनके तमाम सरोकारों के कारण उन्हें एकदम प्रगतिशील, सामंत-विरोधी जनवादी आदि सिद्ध किया, उनके इन दोनों रूपों की सम्यक प्रस्तुति करते हुए उनके अंतर्विरोधों और उनसे उबरने की उनकी चेष्टा को मद्देनजर रखकर उनके बीच से उभरती उनकी समग्र आकृति तथा उसमें से उनकी उस छवि को अलग से रेखांकित करने का प्रयास नहीं किया। जहाँ अपनी युग सपृक्ति के बावजूद वे आगे भी हमारे साथ चल पाते हैं, और हमारे लिए उतने अंश में प्रेरक सिद्ध होते हैं। ऐसा करके हम तुलसी के समग्र को पाठक के सामने पेश करते हुए उनके प्रेरणास्पद अंश को अलग से उसके लिए रेखांकित कर सकते थे और मूल्यांकन की अधूरी कोशिश करने या सरलीकरण करने जैसे आरोपों से भी बच सकते थे। परन्तु इधर के कुछ प्रयासों को छोड़ दिया जाय तो तुलसीदास तथा परंपरा के मूल्यांकन के हमारे दूसरे प्रयास भी उपर्युक्त कमजोरी से ग्रस्त रहे हैं और इस कारण मार्क्सवादी आलोचना की विश्वसनीयता को भी हमने संदिग्ध बनाया है। भवभूति और कालिदास की प्रतिभा का सही दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने वाले डॉ० रामविलास शर्मा के इस दिशा में किए गए अन्य प्रयास इन नाते विवादास्पद रहे हैं कि उनके मूल्यांकन में व्यक्तियों के प्रगतिशील पक्ष को तो रेखांकित किया गया है, इतर पक्ष की अनदेखी की गई है या उसे उभारा नहीं गया है और इस प्रकार अंतर्विरोधों की चर्चा न करके एक सीधी लकीर में इनकी प्रगतिशीलता का आख्यान किया गया है। डॉ० शर्मा का परंपरा के मूल्यांकन का यह प्रयास फिर भी महत्त्वपूर्ण है कारण इसमें परंपरा के महत्त्व को नकारा नहीं गया, उसे आलोचना के बीच स्वीकार या अस्वीकार किया गया, किन्तु उनके समकालीन रांगेय राघव, यशपाल, राहुल तथा अन्यों ने इस प्रकार की स्थापनाएं दीं जिनके चलते आम धारणा यह बनी कि प्रगतिशील मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि में परंपरा का संपूर्ण तिरस्कार और

अवमानना है। हमारी यह बात सर्वत्र एक जैसी भले ही लागू न हो किन्तु मुख्यांश में वह बहुत अधिक दूर नहीं है। हाल में प्रकाशित अपनी किताब के पहले लेख 'परंपरा के मूल्यांकन' में डॉ० रामविलास शर्मा ने परंपरा के प्रति मार्क्सवादी दृष्टि को सही रूप में प्रस्तुत किया है जिसकी नोटिस मार्क्सवादी आलोचना के क्षेत्र में काम करने वालों को लेनी ही चाहिए।

परंपरा के मूल्यांकन के समान ही महत्त्वपूर्ण सवाल समकालीन सर्जना के मूल्यांकन का है। इस बिन्दु पर मुक्तिबोध ने अपने निबंध में विस्तार से क्षोभपूर्ण चर्चा की है। परंपरा की अवमानना न करते हुए भी, उसके जीवन तत्त्वों को अगले विकास में शरीक करते हुए भी तथा तमाम सारी इतिहास, विरोधी विचारधाराओं की खिलाफत करते हुए इतिहास की गतिशील छवि का पुरस्कर्त्ता होते हुए भी मार्क्सवादी दर्शन का मुख्य सरोकार वर्तमान तथा भविष्य में उसके सही रूपान्तरण का सवाल है। मार्क्सवाद वर्तमान तथा भविष्य की अवहेलना कर अतीत को स्वीकार नहीं करता वरन् वह वर्तमान तथा भविष्य के लिए ही अतीत को देखने परखने तथा इस्तेमाल करने का हामी है। अतीत उसके लिए कोई शौकिया चीज नहीं है और जैसा कि राल्फ फाक्स ने कहा है, वह वर्तमान में अच्छी तरह जिन्दा रहने के लिए अतीत का इस्तेमाल करता है। ऐसी स्थिति में अतीत से अधिक महत्त्व वर्तमान को परखने तथा मूल्यांकित करने का हो जाता है जिसके बीच से ही आकांक्षित भविष्य को सवारा जा सकता है। कहना न होगा कि इस बिन्दु पर भी मार्क्सवादी आलोचना सर्वथा विवादहीन नहीं रह सकी है। एक स्तर पर जहाँ उसने अपने समय की सर्जना की मूल्यवत्ता को सही आयामों पर उजागर करते हुए समकालीन सर्जना को गुमराह होने से बचाया है तथा उसे सही तेवर में सही गंतव्य की ओर बढ़ने में मदद की है वहां कुछ ऐसे सवालों को भी जन्म दिया है, दृष्टिगत कुछ ऐसे भटकावों की बानगी भी पेश की है जो उसे कमजोर करने वाले तथा उसकी प्रेरक दृष्टि की साख को कम करने वाले साबित हुए हैं।

यदि हम खास अपने समय की सर्जना पर दृष्टिपात करें, विशेषकर छायावाद युग और छायावाद के बाद की सर्जना पर, तो स्पष्टतः हमारे सामने ऐसे सर्जनात्मक प्रयासों का रूप उजागर होता है जिन्हें मोटे तौर पर कई स्तरों पर पहचाना जा सकता है। इनका एक स्तर रोमानी रुझान को प्रधानता देने वाली सर्जना का है, जिसके अंतर्गत छायावाद के बड़े कवियों से लेकर उसके उत्तर-वर्ती क्षयी रूप के पुरस्कर्ता, बच्चन, अंचल जैसे रचनाकार आते हैं, और यह रोमानी प्रवृत्ति आगे भी तथाकथित तमाम प्रयोगशील कहे जाने वाले कवियों में, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार, शमशेर आदि में भी नए-नए तेवर के साथ देखी जा सकती है। इस रोमानी रुझान के विपरीत एक दूसरा स्तर यथार्थपरक सर्जना का है जिसके उदाहरण सन् 36 के बाद की प्रगतिशील कविता तथा बाद

की सर्जना में भी मिलते हैं। कविता के क्षेत्र में सामाजिक जीवन की विसंगतियों से सीधे प्रभाव ग्रहण करती हुई कुछ नितान्त अहेतुक प्रवृत्तियाँ भी सामने आती हैं, *मसलन अकविता आदि की, जो बहुत स्थायी भले न हों अपना प्रभाव समकालीन* सर्जना पर जरूर छोड़ती है। प्रयोगवाद तथा नई कविता के वे काव्यान्दोलन भी हमारे सामने हैं जो काफी लंबे समय तक प्रगतिशील काव्य सर्जना के विरोध में *रहे और निश्चित रूप से जिन्होंने समकालीन युवा रचनाकारों को कविता-संबंधी* एक ऐसी समझ दी जो भारतेन्दु के समय से चली आती हुई यथार्थपरक जनवादी सर्जना के विपरीत उन्हें मिथ्या नारों और पश्चिम के लिए पतनशील *काव्यान्दोलनों और विचारधाराओं की ओर उन्मुख किए रही।* इतने सक्रिय सर्जनात्मक माहौल के प्रति, जिसमें पतनशील तथा प्रगतिशील दोनों रुझानें, यथार्थपरक और यथार्थ विरोधी दोनों प्रकार के स्वर लगातार संघर्ष की स्थिति में रहे, *मार्क्सवादी आलोचना अपनी अपेक्षित भूमिका पूरे प्रभाव के साथ नहीं* निभा सकी। प्रतिगामी, पतनशील तथा पश्चिमी व्यक्तिवाद तथा कलावाद से आक्रान्त काव्य सर्जना तथा काव्य चिन्तन की खिलाफत तो असरदार रही, प्रतिगामी विचारधारा का तो पर्दाफाश किया गया, किन्तु यह काम बहुधा पूरी विवेक सजगता के साथ नहीं हुआ। इस सिलसिले में दृष्टि के निहायत सतहीपन का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए क्षयी जीवन प्रवृत्तियों को उनके सामाजिक संदर्भ से काटकर, उनके स्रोतों से अलग कर, और रचनाकार पर पड़े उनके प्रभाव को समग्रता में आंके बिना कोरमकोर भर्त्सना का विषय बनाया गया और ऐसी सर्जना तथा रचनाकारों को भी लांछित किया गया जो, कुल मिलाकर, इन *प्रवृत्तियों से विचार या दर्शन के स्तर पर नहीं जुड़े थे और यथार्थपरक प्रगतिशील* चिन्ता के हामी थे। गजानन माधव मुक्तिबोध ने इस स्थिति पर बहुत सफाई से लिखा और अपना क्षोभ व्यक्त किया है। यही बात नए कला शिल्प की भी है। *नए कला शिल्प की नई अभिव्यक्तियों को कोरमकोर पश्चिम का उधार मान लेने* की प्रवृत्ति भी हमारी अतिवादी दृष्टि का ही साक्ष्य बनी फलतः हमने प्रगतिशील सर्जना को नई कला से अलग रखने की गलत सिफारिश की। प्रगतिशील सर्जना ने निश्चय ही इस बिन्दु पर *इतर सर्जना से मात खाई और उसकी उपेक्षा हुई।* एक और बात जो इस संदर्भ में खास ध्यान देने की है और जिसकी ओर मुक्तिबोध ही नहीं, केदार अग्रवाल आदि ने भी क्षोभ से इशारा किया है, वह यह कि प्रगतिशील सर्जना की हामी मार्क्सवादी आलोचना और उसके कर्ताओं ने जहाँ पूर्ववर्तियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखी, परंपरा का सही मूल्यांकन किया, पूर्ववर्ती और समकालीन अनेक रचनाकारों की सर्जना के प्रगतिशील तत्त्वों को उभारकर उनकी मूल्यवत्ता का आख्यान किया, प्रतिगामी तथा पतनशील रुझानों वाली सर्जना, उसके रचनाकारों तथा उनकी रचना में निहित विचारों की

असलियत उद्घाटित करते हुए प्रगतिशील सर्जना की हिमायत की, वहा किसी भी मान्य मार्क्सवादी आलोचक ने अपने समय के प्रगतिशील जनवादी रचनाकारो तथा उनकी सर्जना को विशिष्टता के साथ व्याख्यायित नही किया। नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, मुक्तिबोध सब काफी लबे समय तक मार्क्सवादी आलोचना द्वारा विवेचित नही हुए, उनकी सर्जना की खूबियो का आलेख नही किया गया, *उन पर स्वतंत्र रूप से लगभग कुछ भी नहीं लिखा गया।* इनके बाद की और नई *पीढी की सर्जना भी मार्क्सवादी समीक्षको की निगाह मे नही चढी और हमारे युवा* रचनाकर्मी भी उपेक्षित हुए। समकालीन प्रगतिशील सर्जना की यह उपेक्षा अपने परिणामो के साथ सामने आई और न केवल हमारे वरिष्ठ प्रगतिशील रचनाकार जब तब दिग्भ्रमित हुए, युवा रचनाकारों मे अनेक इस उपेक्षा का शिकार होकर या तो चुप हो गए या दूसरे खेमे में चले गए। यही नही, कुछेक उदाहरण तो इस बात के भी हैं कि बजाय प्रगतिशील रचनाकारो की सर्जना को सराहे, हमने उनकी कुछ कमजोरियो को इतना महत्त्व दिया कि उन्ही के आधार पर विरोधियो से भी *ज्यादा घातक तरीके से उनकी आलोचना की, उनकी सर्जना की खूबियो को* एकदम नजरंदाज किया और उन्हें इस तरह पेश किया गोया हमारे और हमारे सकल्पो के सबसे बडे शत्रु यही हैं। जरूरी था कि मार्क्सवादी आलोचना की द्वन्द्वात्मक दृष्टि का उपयोग करते हुए हम प्रगतिशील रचनाकारो के अंतर्विरोधो के बीच उनकी कमियाँ तथा उनकी शक्ति दोनो को उजागर करते और इस प्रकार उनका समग्र मूल्यांकन करते। हमने ऐसा न करके इकतरफा कार्यवाही की। जैसा हमने कहा, मुक्तिबोध ने इस पर बहुत क्षोभ के साथ लिखा है और सही लिखा है। हम आज भी इस गलत आलोचना दृष्टि से एकदम मुक्त नही हैं।

अब हम मार्क्सवादी आलोचना से जुड़े कुछ ऐसे सवालो को लेंगे जो *सिद्धान्त और व्यवहार दोनो स्तरो पर अपनी गलत परिणतियो मे मार्क्सवादी* आलोचना के लिए समस्या बने हैं। एक सवाल वस्तु और रूप के अंतस्संबंधो का है जिस पर, जहाँ मार्क्सवादी आलोचना की बुनियादी स्थापनाओ की बात है, उनकी उपेक्षा करते हुए, प्रायः हमने गलत दृष्टि अपनाई है जिसके परिणाम सर्जना तथा मूल्यांकन दोनों आयामों पर अहेतुक हुए हैं। मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि की बुनियादी स्थापनाओ से वाकिफ लोग जानते हैं कि इस सवाल पर दिग्भ्रम के लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं रही, दिग्भ्रम यदि हुआ है तो इस सवाल मे संबद्ध बातो को उनकी सही जमीन तथा उनके आशयो के साथ *न ग्रहण कर पाने की हमारी असमर्थता के कारण। काव्य सर्जना हो अथवा काव्य समीक्षा,* वस्तु की *प्रमुखता तथा उसकी निर्णायक भूमिका के* बावजूद मार्क्सवादी कला चिन्तन के प्रणेताओ ने एक पल के लिए भी रूप पक्ष के प्रति उदासीनता न बरतने की बात की है और कुछ मौको पर रूप के निर्विशिष्ट प्रभाव को भी ज्ञापित किया

है। वस्तु और रूप की अभिन्नता में ही सच्ची कला सर्जना की बात सभी ने स्वीकार की है और मूल्यांकन करते समय दोनों की अपनी इयत्ता को स्वीकार करने पर बल दिया है। परन्तु लंबे समय तक वस्तु और रूप के सह-संबंधों और अंतस्संबंधों के प्रति हमारी मार्क्सवादी समीक्षा वह साफ दृष्टि लेकर नहीं चल सकी और सर्जना में भी रूप पक्ष की उपेक्षा की गई। हम सब अपनी इस गलत दृष्टि की अहेतुक परिणतियों को जानते हैं अतएव इस पर अधिक कहने की जरूरत नहीं हैं। इधर हमने ध्यान देकर इस गलती को सुधारने की कोशिश की है और बार बार इस बात पर जोर दिया है कि रूपवाद के विरोध के मायने रूप का विरोध नहीं है। रूपवाद अहेतुक है जबकि रूप कला रचना का अभिन्न अंग। रूपगत प्रयोग भी तब तक अहेतुक नहीं है जब तक वे एक विशिष्ट वस्तु को उभारने और व्यंजित करने के लिए हैं और वह वस्तु हमारी अपनी प्रशस्त सोच की संगति में है। हमें खुशी है कि वस्तु और रूप के संबंध को लेकर हम सही लाइन ले सके हैं अन्यथा सर्जना हो या समीक्षा जैसा कि हमने कहा लंबे समय तक हम व्यवहार में बहुत सावधान नहीं रहे। समीक्षा की बात लें तो मुक्तिबोध ने ठीक ही कहा है कि हमने कला के ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पक्ष को तो देखा और विश्लेषित किया किन्तु उसके सौन्दर्यात्मक-मनोवैज्ञानिक पक्ष की उपेक्षा की। यह इकहरापन अथवा यह एकांगिता हमारी समीक्षा को कलाकृति के संपूर्ण महत्त्व को उभार कर उसका समग्र मूल्यवत्ता को रेखांकित करने लायक नहीं बना सकी। जरूरत ऐसी समीक्षा की है जो कलाकृति के ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथा सौन्दर्यात्मक मनोवैज्ञानिक दोनों पक्षों को एक साथ संश्लिष्ट रूप में विवेचन का विषय बनावे, कारण कलाकृति की समीक्षा एक ही हो सकती है, अनेक नहीं। मार्क्सवादी समीक्षा में यह माद्दा है कि वह कलाकृति के उक्त दोनों पक्षों को एक संश्लिष्ट दृष्टि के तहत प्रस्तुत कर सके और उसी की ओर हमारा प्रयास होना चाहिए। यह काम नए वस्तु और रूप के प्रति सही दृष्टिकोण रखकर ही पूरा किया जा सकता है और इसके लिए हमें चिन्तन दृष्टि से अलग जाने की जरूरत भी नहीं है। जरूरत सिर्फ मार्क्सवादी कला दृष्टि को सही ढंग से समझने, ग्रहण करने और कला समीक्षा में उसे लागू करने की है।

एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा कला और विचारधारा के संयोजन का है जिसे लेकर मार्क्सवादी समीक्षकों और सर्जकों के बीच इधर काफी कुछ विचार विमर्श हुआ है, और हो रहा है। इस मुद्दे पर हम विशेष रूप से कुछ कहना चाहेंगे। अपनी समीक्षा में विचारधारा के पक्ष पर विशेष बल देने और कृति के कला पक्ष पर समुचित बल न देने के अहसास के कारण या कहें कि अपनी समीक्षा दृष्टि पर गैर मार्क्सवादियों तथा मार्क्सवाद विरोधियों के इस प्रकार के आरोप से प्रभावित होकर अपनी और अपनी समीक्षा की साख बनाए रखने की फिक्र से पीड़ित-

होकर इधर मार्क्सवादी रचनाकारों और समीक्षकों के एक वर्ग ने विचारधारा को गौण करार देते हुए कला को, और सीधे कला को नहीं, वरन् अनुभव को विशेष वरीयता देने की सिफारिश की है। अपने पक्ष को प्रमाणित करने के लिए इन लोगों ने मार्क्स एंगेल्स का हवाला देते हुए यह साबित करने की कोशिश की है कि मार्क्सवाद के इन प्रणेताओं का अभिमत भी यही था। उदाहरण के लिए वे मार्गरेट हार्कनेस को लिखे गए एंगेल्स के पत्र को उद्धृत करते हैं जिसमें एंगल्स ने विचारधारा के परोक्ष रहने की बात कही है, या फिर मार्क्स के लसाल के नाटक पर दिए गए अभिमत को पेश करते हैं जिसमें मार्क्स ने लसाल को शिलर के बजाय शेक्सपियर को महत्त्व देने की बात की है। तोल्सतोय, बाल्जक आदि की महानता का उदाहरण वे यह साबित करने के लिए देते हैं कि विचारधारा से अधिक महत्त्व अनुभवों का है और गलत विचारधारा भी महान कलाकृतियों को जन्म दे सकती है। इस प्रकार की बहुत सी बातें विचारधारा को गौण साबित करने के लिए तथा कला और अनुभवों को महत्त्व देने की, मार्क्सवादी समीक्षकों और रचनाकारों के बीच से आ रही हैं। जाहिरा तौर पर ये बातें सही कोण से रोशनी डालने के बजाय उसे धुंधला करती है और मार्क्सवादी कला दृष्टि को भी विरूप करती हैं। वे सवाल को विचारधारा बनाम कला या विचारधारा बनाम अनुभव, इस रूप में पेश करती हैं जबकि सवाल को पेश करने का यह कोण अथवा यह रूप बिलकुल गलत है।

विचारधारा की अहमियत मार्क्सवादी कला दृष्टि में सदैव रही है। जो विचार-दर्शन समाज के रूपान्तरण की बात करता हो और कला को मानवीय सर्जना का इस रूपान्तरण में हिस्सेदारी बटाने वाला प्रतिफल कहता हो, उसके लेखे विचारधारा की अहमियत स्वाभाविक ही होगी और किसी मार्क्सवादी को इसके लिए किसी प्रकार का डिफेन्स प्रस्तुत करने की जरूरत नहीं। मार्क्सवाद सोद्देश्य कला का हामी है और यह सोद्देश्यता विचारधारा से विरहित होकर कथमपि अपने वजूद को प्रमाणित नहीं कर सकती। किन्तु जहां मार्क्सवाद कला को सोद्देश्य मानता है और समाज के रूपान्तरण में उसकी हिस्सेदारी को स्वीकार करता है वहां वह कला की अपनी विशिष्ट प्रकृति को नजरंदाज नहीं करता। वह कला की स्वायत्तता का भी उतना ही हामी है गोकि कला की इस स्वायत्तता को वह सामाजिक जीवन से परे नहीं मानता। कला यदि कला है तो उसे अपनी सारी कलात्मक जरूरतों के साथ ही सामने आना चाहिए। यह बात सही है परन्तु इस कला की अतर्वस्तु और उसकी बुनावट ऐसी होनी चाहिए कि वह अपने प्रशस्त मानवीय सरोकारों को, विचारधारा को अपनी प्रखरता और सोद्देश्यता को अभिव्यक्ति देते हुए भी कला बनी रह सके। विचारधारा ऊपर से आरोपित न होकर रचना की संवेदना का, उसकी बुनावट का ऐसा हिस्सा बने कि वह ऊपर

से न झलक कर रचना के रग-रेशे मे एकात्म हो। एंगेल्स ने जहा विचार के परोक्ष रहने की बात की है या मार्क्स जहाँ शेक्सपियर को शिलर की तुलना मे वरीयता देते हैं तो इसी जमीन पर अन्यथा सोद्देश्य कला का समर्थन दोनों करते हैं। विचारधारा के निषेध की बात दोनो नही करते। एंगेल्स मीना काउत्स्की को लिखे अपने पत्र मे भी ऐसा करते हैं और मार्गरेट हार्कनेस को लिखे पत्र मे भी उसके उपन्यास की आलोचना इसलिए भी करते हैं कि उसमे मजदूर वर्ग की विचारधारा को सही रूप मे पेश नही किया गया। जिस समय से सम्बन्धित यह उपन्यास है उस समय का मजदूर वर्ग कोई निष्क्रिय मजदूर वर्ग नहीं था और इस मजदूर वर्ग की अग्रगामी विचारधारा को उपन्यास मे चित्रित नही किया जा सका। कहने का तात्पर्य यह कि सवाल को गलत ढंग से पेश न करके हमें उसे सही रूप में पेश करना चाहिए और सही रूप मे पेश करने पर सवाल का रूप विचारधारा बनाम कला या विचारधारा बनाम अनुभव का न होकर इस बात का हो जाता है कि विचारधारा कला मे आवे परन्तु किस प्रकार आवे। प्रश्न विचारधारा के कलात्मक *रूपान्तरण का है न कि विचारधारा के निषेध का। विचारधारा का निषेध हमारी* कला को और कुछ भले बना दे मार्क्सवाद की बुनियाद मे विच्छिन्न कर देगा।

जहाँ तक अनुभव की बात है, अनुभव के निषेध का कोई सवाल नहीं है परन्तु ध्यान रहे कि रचना मे व्यक्त अनुभव कोरा अनुभव, प्रकृतिवादियों का अनुभव न होकर विचार को साथ लेकर व्यक्त होने वाला अनुभव होता है। विचार रहित अनुभव अनुभववाद है, प्रकृतिवाद है, उसका कम-से-कम प्रगतिशील कही जाने वाली सर्जना अथवा समीक्षा से तो कोई सरोकार नही है। हमारे अनुभववादी मित्र भूल जाते हैं कि जिन्दगी की सीधी रगड़ से पाए गए अनुभव रचना मे एक सही सोच की अभिन्नता में ही चमकते और निखरते हैं और सोच ही अनुभवो को धार तथा व्यवस्था देकर एक सार्थक और सोद्देश्य कला से जोडती है। प्रेमचन्द ने अपनी जिन्दगी मे जो अनुभव अर्जित किए, संभव है, कमोबेश रूप मे, वे उनके अन्य कई समकालीनो के अनुभव भी हों परन्तु एक सही सोच के साथ प्रेमचन्द के अनुभवों ने जहाँ एक सार्थक सर्जना का रूप पाया वहाँ दूसरों के अनुभव या तो महज तथ्य बनकर रह गए, प्रकृतिवाद की संज्ञा पा सके या फिर एक मामूली सर्जना के रूप में ही ढल पाए। अतएव विचारधारा को, सोच को बाहर करके मात्र अनुभवो की जमीन पर सच्ची कला की इमारत नही खड़ी की जा सकती। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि विचारधारा को अहमियत देने के अर्थ यह कतई नही है कि उसका ऊपर से आरोपण हो, उसे कला रचना का अभिन्न अंग बनकर, कला के रंग रेशे मे रच बसकर आना चाहिए अर्थात विचारधारा ही बडी कला को सामने नही आती उसके लिए रचनाकार को रचना की शर्तें भी पूरी करनी पड़ती है। कलात्मक महारत के बिना सही से सही विचारधारा भी बेअसर

होती है उसी प्रकार जिस प्रकार सही विचारधारा के अभाव मे कलात्मक महारत भी एक सीमा के बाद बेअसर हो जाती है। विचारधारा को सही कला का रूप कैसे दिया जाए, मार्क्सवादी आलोचना का बुनियादी सवाल यही है और हमें उसीसे जूझना भी है। मार्क्सवाद के चिन्तकों ने तथा कला चिन्तकों ने इस बारे मे जो कहा है हमे उसे मद्देनजर रखकर सवाल को सही कोण से निपटाने का प्रयास करना चाहिए।

इधर मार्क्सवादी आलोचना में हिन्दी की मार्क्सवादी कही जाने वाली आलोचना में एक प्रवृत्ति इस प्रकार की दिखाई पड़ रही है जैसे वह गैर मार्क्सवादियों या मार्क्सवाद विरोधियों के छद्म आरोपों से आतंकित होकर अपनी छवि सुधारने के भ्रम मे उनकी जमीन पर ढुलकती जा रही हो अर्थात अपनी जमीन से कटती जा रही हो। यह मार्क्सवादी आलोचना की कमजोरी नही, हमारी अपनी समझ तथा सामर्थ्य की कमी है। हम अपनी पारिभाषिक शब्दावली को वाकई गैर साहित्यिक मानकर विरोधियों की पारिभाषिक शब्दावली अपनाते जा रहे हैं और उन्ही के औजारों को भी ग्रहण करते जा रहे हैं। जाहिरा तौर पर साहित्य और कला की परख का मार्क्सवादी नजरिया दूसरी दृष्टियों से आधारतः भिन्न है। इधर नई समीक्षा के प्रभाववश और उसी को आधुनिक समीक्षा मानकर हम साहित्य और कला की समीक्षा उनके नजरिए अथवा उनके द्वारा रेखांकित की जाने वाली बातो के तहत करने लगे हैं। बीच-बीच में कुछेक मार्क्सवादी फिकरे डालकर हम अपनी इस समीक्षा को मार्क्सवादी समीक्षा का नाम दे देने का प्रयास करते यह हैं। कोरा अवसरवाद और विसर्जनवाद है। मार्क्सवादी आलोचना को नया और अधुनातन बनाने का हमारा इरादा हमें अपनी जमीन से काटकर ऐसी जमीन पर खड़ा कर रहा है जहा हमारी यह तथाकथित अधुनातन मार्क्सवादी आलोचना नाम की मार्क्सवादी आलोचना रह जाती है। इसी प्रकार का एक सशोधनवादी रूप वह है जहा हम मार्क्सवादी कला चिन्तन के कुछ प्रमुख व्यक्तियो का बल लेकर मार्क्सवाद की बुनियादी अवधारणाओं मे ही सशोधन करने की सिफारिश करते हैं और उनका अनुगमन करते हैं। अर्न फिशर, रेमण्ड विलियम्स आदि की अनेक मान्यताए अभी विवादास्पद हैं, उन्हें ही मार्क्सवाद और मार्क्सवादी कला चिन्तन की प्रामाणिक व्याख्या मानने के पहले हमे यह सोचना चाहिए कि वे जिस जमीन पर खड़े हैं क्या उस जमीन पर खड़े होकर हम मार्क्सवाद को ही सशोधित नही कर रहे। पश्चिम से इधर मार्क्सवाद पर ढेर सारी किताबें, नव वाम का लेबल लगाकर सामने आ रही हैं। सवाल है कि मार्क्सवाद के प्रति पश्चिम की इस बढ़ती हुई रुचि का कारण क्या है? कही ऐसा तो नही है कि मार्क्सवाद के नाम पर यह ट्राटस्कीवाद का पुनरुद्धार हो या फिर मार्क्सवाद को इस हद तक डाइल्यूट कर देने या अतिवादी बना देने का प्रयास कि वह सुधारावद या आतंक-

वाद मे बदल जाए और मार्क्सवाद रह ही न जाए। ये किताबें हमें मार्क्सवाद की जो समझ देती हैं और उसके आधार पर कला तथा साहित्य की जिस समझ के लिए रास्ता खोलती हैं उस समझ को लेकर मार्क्सवादी आलोचना को हम अपने समय की सबसे जीवंत और समग्र आलोचना नहीं बना सकते। बुनियाद से कटकर हम उस पर मार्क्सवादी आलोचना और आलोचना दृष्टि का अहित ही करेंगे, उसे सम्पन्न नहीं कर सकते। हमारे कहने का मतलब यह नहीं है कि हम अपनी आलोचना दृष्टि तथा जीवन दृष्टि का नए संदर्भों मे और नई आवश्यकताओं के अनुरूप तालमेल न बिठाएं, रूढ़ ही बने रहें किन्तु अपने को समय के नए तकाजे से जोड़ते हुए भी हमे बुनियादी अवधारणाओं पर ही स्थिर रहना होगा। उनके बदलने का अर्थ अपनी जमीन को ही छोड़ देना होगा, जबकि जाहिर है कि बुनियाद से जुड़े रहकर भी हम अपनी जीवन दृष्टि तथा आलोचना कर्म को समय के जाग्रत संदर्भ दे सकते हैं। मार्क्सवाद कोई डाग्मा नहीं वह एक जीवंत विचार दर्शन है और अपनी मूलभूत अवधारणाओं को बरकरार रखते हुए भी वह समय की चुनौतियों को झेल रहा है विकास कर रहा है और आगे का मार्ग दर्शन कर रहा है।

अतएव समस्याएं हमारे सामने हैं और बहुत हैं, किन्तु उनसे निपटने का साहस तथा तैयारी भी हममे है। अपनी तमाम कमियों के बावजूद, जिनका हमने इशारा किया, मार्क्सवादी आलोचना ने अपने उद्भव के साथ अपने दायित्व को गंभीरतापूर्वक निभाया है, उसने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों आयामों पर हमारे चिन्तन तथा आलोचना कर्म को दिशाएं दी हैं, उसे मजबूत बनाया है। प्रतिगामी-प्रतिक्रियावादी सर्जना तथा कला चिन्तन को बेनकाब करते हुए उसने साहित्य तथा कला को गुमराह करने वाली कोशिशों से टक्कर ली है। मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि के अभाव में हमारे आलोचनात्मक कर्म की क्या दिशा होती, हमारी सर्जना किन राहों पर जाती, हम सहज ही इसका अनुमान कर सकते हैं। हिन्दी आलोचना की राष्ट्रीय जनवादी तथा प्रगतिशील आकृति की जो बुनियाद भारतेन्दु बाबू के समय में रखी गई तथा जिसे आचार्य द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे समीक्षकों तथा आलोचकों ने मजबूत किया, मार्क्सवादी आलोचना तथा उससे जुड़े समीक्षकों ने आलोचना की इस प्रगतिशील परंपरा को न केवल संरक्षित किया है, उसे नई समृद्धि प्रदान की है। इस हद तक कि *आज तमाम सारी आलोचना* दृष्टियों तथा सारणियों के बीच हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना अपनी अलग पहचान बना सकी है, सबसे अधिक प्रखर, समग्र तथा सार्थक आलोचना के रूप में अपनी प्रतिष्ठा कर सकी है, सीमाएं उसकी हैं, किन्तु सीमाएं कहां नहीं है, सवाल सीमाओं को सीमाओं के रूप मे स्वीकार कर उनसे उबरने का है, सही मार्ग पकड़ने का है, और यह कार्य मार्क्सवादी आलोचना और उससे जुड़े समीक्षक बखूबी कर रहे हैं।

आधुनिकता और आधुनिकतावाद

आधुनिकता और आधुनिकतावाद को लेकर पिछले तमाम वर्षों से देश और विदेश के *साहित्य-जगत* मे जो चर्चाएँ हुई हैं उनसे स्पष्ट होता है कि इन अवधारणाओं को लेकर विचारको मे न केवल गहरे मतभेद हैं, इन मतभेदो के चलते सर्जना तथा चिन्तन दोनो आयामों पर साहित्य गुमराह भी हुआ है। सामान्य पाठक की बात करें तो वह इन अवधारणाओं को लेकर शायद सबसे अधिक *कनफ्यूज्ड* और परेशान है बगैर किसी भी दावे के, कि हम इन अवधारणाओं को उनके सही आशय के साथ समझने मे सफल हो गए हैं। इस निबंध मे हम इन पर विचार करते हैं।

हमारी सबसे पहली स्थापना यह है कि आधुनिकता और आधुनिकतावाद दो सर्वथा भिन्न अवधारणाएँ हैं और इन्हे किसी भी स्तर पर गड्डमड्ड नही करना चाहिए क्योकि प्राय: इन्हे गड्डमड्ड करके ही प्रस्तुत किया जाता रहा है।

आधुनिकता हमारी दृष्टि मे एक जीवंत चेतना, एक सक्रिय जीवन-स्थिति, एक गत्यात्मक विचार है, जो मनुष्य को अपने समय के सारभूत सत्य से जोडता है और उसकी जिन्दगी को उसके अपने समय के लिए ही नही, आगे के लिए भी अर्थवान बनाता है, उसे जड, निष्क्रिय अप्रासंगिक और व्यतीत नहीं होने देता। आधुनिकता और समसामयिकता इस कारण एक दूसरे से भिन्न हैं कि जहाँ समसामयिक चेतना मनुष्य को अपने समय की सतह तक ही सीमित कर उसे गत और आगत से काट देती है, वहाँ आधुनिक चेतना अपनी आधुनिकता के बावजूद त्रि-आयामी होती है, उसके अर्थ को वर्तमान के अलावा मनुष्य के गत और आगत से जोडकर भी देखा और समझा जा सकता है, आधुनिकता समसामयिकता का निषेध नही करती, उसे गहरा बनाती है और उसका अतिक्रमण भी करती है। आधुनिक लेखक समसामयिक भी होता है जबकि जरूरी नहीं है कि समसामयिकता के साथ जुड़ा लेखक अनिवार्यत: आधुनिक भी हो।

आधुनिकता किसी भी समय या युग मे मनुष्य के सही अर्थों मे होने या न होने का नाम है, वह उसके अस्तित्व की चरितार्थता, उसकी जीवंतता का तकाजा, उसके विवेक की कसौटी है। वह कोई फैशन या ओढी हुई मानसिकता नही, न केवल सतह के उद्वेलनो से परिचित होने का पर्याय ही है। वह सतह के नीचे विद्यमान

तथा किसी भी युग और समय को अपनी संपूर्ण संभावनाओं के साथ अभिव्यक्त करने तथा सार्थक आकांक्षाओं के साथ जीने के लिए गतिशील करने, उसे अपनी चरम क्षमताओं के साथ सामने लाने वाली ऊर्जा है। वह वर्तमान के अनेक संदर्भों को अप्रासंगिक करती हुई अनेक स्तरों पर व्यतीत को प्रासंगिक बनाती है, और भविष्य के साथ उन्हें जोड़ती है। वह एक गतिशील चिन्तन है जो विचार को भौतिक शक्ति के रूप में ढालकर किसी समय या समाज का क्रांतिकारी दिशा निर्देश करता है, उसका रूपांतरण करता है।

आधुनिकता की इस गत्यात्मकता को हम मनुष्य समाज तथा साहित्य के विकास-चरणों को परखते हुए आसानी से पहचान सकते हैं। आदि कवि के नाम से ख्यात वाल्मीकि शायद पहले आधुनिक रचनाकार थे जिन्होंने सर्वप्रथम, वैदिक छन्दों को छोड़कर लौकिक छन्द में अपना काव्य रचा और इस प्रकार कविता को मानवीय जमीन को रेखांकित किया। कविता वेदों में भी मिलती है किन्तु आदि कवि का गौरव भारतीय चेतना सर्वप्रथम वाल्मीकि को ही देती है। इसी प्रकार 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' कहते हुए जब कालिदास व्यतीत के एक अंश पर प्रश्न-चिह्न लगाते हैं और हमें इतिहास के प्रति एक विवेक सम्मत आलोचनात्मक रुख अख्तियार करने के लिए प्रेरित करते हैं, तो यह उनकी आधुनिक चेतना की ही अभिव्यक्ति है। क्या कारण है कि कालिदास जैसा क्लासिक रचनाकार 'कुमारसंभव' में मंगलाचरण नहीं लिखता, मेघदूत में ईश-वन्दना नहीं करता? इन सवालों के जवाब में हमें कालिदास की क्लासिकी आस्थाओं के बीच में जब-तब उभरती हुई उनकी आधुनिक चेतना को पहचानते हुए ही मिल सकते हैं। यदि हम मध्यकाल की सीमाओं में प्रवेश करके देखें तो धर्म-केंद्रित और धर्म चालित मध्ययुग में 'सेक्युलर' कबीर का उदय, संस्कृत को कूप जल कहते हुए भाषा के बहते नीर में उनकी सर्जना का अवगाहन, एक मानवीय संस्कृति रचने का प्रयास और उसके लिए उनका लुकाठी लिए हुए सरे बाजार खड़े होकर समान धर्माओं का आवाहन; सूर का मध्ययुगीन परिवार व्यवस्था पर आघात करते हुए नारीमुक्ति और नारी-आकांक्षा को समर्थ अभिव्यक्ति देना, जैसी बातें मध्ययुगीन सीमाओं में रहते हुए भी इन रचनाकारों द्वारा उन्हें अतिक्रमित करने के सफल प्रयास का प्रमाण देती है और इस बिन्दु पर उनकी आधुनिक चेतना को ही रेखांकित करती है। मध्यकालीन बोध के भीतर से उभरते हुए इस आधुनिक बोध को न पहचानना इन कवियों और उनकी सर्जना की मूल्यवत्ता को सीमित करना है।

आधुनिक काल में आकर मनुष्य की धर्म केन्द्रित दृष्टि विज्ञान से प्रकाश पाती है और यहीं से मध्यकालीन बोध और आधुनिक बोध में एक तीखा टकराव दिखाई पड़ता है, कवियों की अपनी असंगतियाँ, उनकी सर्जना तथा चिन्तन के अन्तर्विरोध भी हमारे सामने स्पष्ट होते हैं और उन अन्तर्विरोधों से गुजरते हुए हमें उनके

मध्यकालीन बोध के समानान्तर अभिव्यक्त होने वाले उनके आधुनिक बोध के दर्शन होते हैं। आधुनिक युग नवजागरण के संदर्भ मे अपने को पुन: पाने का प्रयास करता है, आत्म साक्षात्कार करता है। इस जागरण की अभिव्यक्ति पराधीनता के गहरे अहसास मे होती है और कवि अपनी वर्तमान स्थिति पर रुदन करता है—'आवहु सब मिलि कै रोवहु भारत भाई' कहकर भारतेन्दु एक पराधीन जाति की व्यथा को साकार करते हैं। यह रुदन भाव भी आधुनिक चेतना की एक महत्त्वपूर्ण पहचान के रूप मे हमारे सामने आता है जिसका सदर्भ व्यक्ति की पीडा नही, एक राष्ट्र या जाति की पीडा है। कबीर ने भी अपने समय की सारभूत असगतियो को पहचान कर उनसे दुर्धर्ष सग्राम छेडते हुए अपनी आधुनिक चेतना को इस रुदन भाव से जोडा था—'सुखिया सब संसार है खावे और सोवे। दुखिया दास कबीर है जागे और रोवे। जागरण की अभिव्यक्ति कबीर भी रुदन मे ही करते हैं और भारतेन्दु भी। भारतेन्दु युग से आधुनिकता की चेतना नए तेवर मे अभिव्यक्त होती है और उसके अनेक आयामों को हम आगे के द्विवेदीयुग, छायावाद युग तथा छायावादोत्तर युग मे पहचान सकते हैं। वह कई वैज्ञानिक विचारणाओ तथा नए विवेक-सम्मत चिन्तन से अपने को जोडते हुए वैज्ञानिक दृष्टि बनाती है, अपने समय के सरोकारो को पहचानते हुए इतिहास तथा विकास की वैज्ञानिक गतिविधि से अपना नाम कायम करती है और इस प्रकार अपने समय के सारभूत सत्य को पहचानने, पकडने तथा उसे अभिव्यक्ति देने का प्रयास करती है। वैज्ञानिक विवेक उसका सम्बल बनता है जो उसे गत तथा आगत से सवाद स्थापित कराते हुए भी न तो पुनरुत्थानवादी बनने देता है और न मात्र युटोपियन। अपने समय की छाती पर दृढता से अपने चरण रोपे वह गत तथा आगत दोनो को देखती है और इतिहास की विकासशील शक्तियो की अपनी पहचान के बल पर अपने को प्राणवान तथा जीवत बनाए रखती है।

छायावादोत्तर युग मे पहली बार भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य सर्जना मे कला का व्यवधान मिलता है और यही से सर्जना तथा चिन्तन दोनो आयामो पर भारतीय सर्जना और चिन्तन के मूल मे सक्रिय विचार-बिन्दुओ के बीच तीखी टकराहट प्रारम्भ होती है, जो क्रमश: व्यापक होते हुए गहरी भी होती है। आधुनिक चेतना के जिस संश्लिष्ट तथा विकासशील रूप की चर्चा हमने अभी की है वह यहीं आकर बिखराव, मतभेदो और विभ्रमों के दायरे मे फँसती है, दिग्भ्रमित होती है और रचनाकारो, विचारको तथा पाठको के एक बडे वर्ग को दिग्भ्रमित भी करती है।

हिन्दी कविता तथा साहित्य की सर्जना तथा चिन्तन के धरातल पर पश्चिम की कविता तथा चिन्तन के समानान्तर गतिशील देखने के इच्छुक रचनाकार तथा विचारको का एक वर्ग अपनी मध्यवर्गीय मानसिकता और अपनी जमीन तथा

जनता के जीवन-प्रवाह से गहरी तथा आत्मीय सम्पृक्ति के अभाव मे पश्चिम के उन मूल्यों को, उन विचारधाराओ तथा मनोवृत्तियों को आधुनिकता के नाम पर अपनाने और प्रचारित करने का प्रयास करता है, जो दो महायुद्धो की धरती मे बुद्धिजीवियों के एक वर्ग द्वारा सामने लाई गई थी। किन्तु वह भारत जैसे पिछड़े, अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करते या कि नव स्वतन्त्र देश की धरती, जनता तथा परिवेश के लिए न केवल अप्रासंगिक थी, आरोपित भी थी। कहना न होगा कि इस प्रकार की विचारधारा तथा इस प्रकार के मूल्यों का यह प्रचार आकस्मिक नही था, वरन् एक संगठित योजना के तहत किया गया था! वह द्वितीय युद्ध के बाद नव-स्वतन्त्र भारत वर्ष मे यूरोपीय शीतयुद्ध का प्रसार था, जिसका प्रधान लक्ष्य समाजवादी चेतना तथा उससे प्रेरित साहित्य तथा संस्कृति की प्रगतिशील यथार्थवादी निर्मिति का विरोध था। कुछ आगे चलकर नई कविता के एक प्रमुख भाष्यकार श्री लक्ष्मीकात वर्मा ने कल्पना कविता के कुछ अंको मे आजादी के बाद से लेकर सन् 1967 ई० तक के हिन्दी साहित्य पर अपने धारावाहिक लेखो मे आजादी के बाद उभरने वाले इस चिन्तन के निम्नलिखित प्रमुख सूत्रो को रेखांकित किया जो साफ तौर से हमारे उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करते हैं—(1) वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और कलात्मक सृजनशीलता के साथ मानव मूल्यो की प्रतिष्ठा, (2) राज्याश्रय से मुक्त लेखक का व्यक्तित्व, (3) महामानवो की खोखली और बिकाऊ प्रवृत्ति के विरुद्ध लघुमानव की विवेकपूर्ण दृढ़ता, (4) कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रभावित कृत्रिम साहित्य सृजनशीलता के विरुद्ध सौन्दर्यपरक (एस्थेटिक) कला सृजन की सार्थकता, (5) इतिहास के दुराग्रह और परम्परा की रूढ़ियों से मुक्त आधुनिकता की मॉंग, जिसमें अद्वितीय क्षणो की अनुभूति और विवेक का समर्थन, कोरी भावुकता और हलहामी नपुसकता की निन्दा है,पश्चिम में प्रकाशित 'एन काउण्टर' जैसी पत्रिकाओ, 'कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम' जैसी संस्थाओ के इस दौर के वक्तव्यों से उपर्युक्त माँगों का मिलान करने पर साफ पता चलता है कि आधुनिकता के इन देशी भाष्यकारों की मांगें किस तरह उनसे एकात्म और अनुरंजित है। इलाहाबाद मे इसी दौर मे गठित 'परिमल' संस्था तथा उसकी साहित्यिक और सांस्कृतिक सक्रियता को भी शीतयुद्धीय विचारधारा के एक अंग के रूप मे ही देखने और समझने की जरूरत है। हमने इसी आधार पर कहा है कि आजादी के बाद साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी यह चिन्तन आकस्मिक न होकर एक संगठित प्रयास के तहत ही सामने आया। सर्जना के क्षेत्र मे और साहित्य के चिन्तन के क्षेत्र मे इस चिन्तन को जो अभिव्यक्ति मिली वह भी हमारे इस कथन को पुष्ट करती है कि किस प्रकार इस संगठित प्रयास का मुख्य उद्देश्य साहित्य *तथा संस्कृति के क्षेत्र मे व्याप्त तथा फैल रही समाजवादी प्रगतिशील* चेतना तथा यथार्थपरक कला रुझानों का विरोध था। इसी दौर में कुछ आगे-पीछे धर्मवीर

भारती के 'मानव मूल्य और साहित्य' तथा 'प्रगतिवाद एक मूल्यांकन' जैसे विवेचनात्मक ग्रन्थ, 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जैसे उपन्यास, लक्ष्मीकांत वर्मा का 'खाली कुरसी की आत्मा' नामक उपन्यास, अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', विजयदेव नारायण साही का 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' तथा 'मार्क्सवादी समीक्षा की कम्युनिस्ट परणति' लेख प्रकाशित होते हैं। हमारे कहने का मतलब केवल इतना ही है कि आजादी के बाद इन तमाम बाहरी दबावों के चलते आधुनिकता की अवधारणा वही नहीं रह जाती जिसे हम उसकी सही प्रस्तुति मान सकते हैं और जिसे एक गतिशील विचार के रूप में अपने समय के सारभूत सत्य से पहचान करने वाली विज्ञान सम्मत अवधारणा के रूप में हमने ऊपर व्याख्यायित किया है। आधुनिकता के नाम पर अब ऐसे सवालों को, एक विशिष्ट वर्ग द्वारा उभारा और रेखांकित किया जाता रहा जो हमारे देश या उसके जीवन से नव-स्वतन्त्र देश की बहुसंख्यक जनता के जीवन से जुड़े सवाल न थे। ये एक नव स्वतन्त्र राष्ट्र की नई पीढ़ी सर्जकों तथा बुद्धिजीवियों के मन में अपने देश के भविष्य उसकी भावी गतिविधि तथा उसकी सम्भावनाओं के प्रति दिग्भ्रम तथा शंका पैदा करने वाले, सम्पूर्ण प्रगतिशील अभियानों को गतिरुद्ध करने वाले सवाल थे और विडंबना यह कि इन सवालों को तथा इनसे जुड़ी शंका अविश्वास, संत्रास, अनास्था, अनिश्चय, अकेलेपन तनाव, पीड़ा, कुंठा, मृत्युबोध, अस्तित्व-चिन्ता, क्षणबोध जैसी मनोवृत्तियों तथा मनोदशाओं को, एक गहरी दार्शनिक पीठिका में, युग के प्रतिनिधि सवालों के रूप में पेश किया गया। व्यक्ति स्वातन्त्र्य, कला की स्वायत्तता, प्रयोगों की आवश्यकता, मानवीय विवेक, लघुमानव जैसे नारों को उछालते हुए समस्त कला-सर्जन तथा कला चिन्तन को व्यक्तिवाद तथा अनिश्चयवाद के बियावान में गुमराह करने का प्रयास किया गया। इसे ही आधुनिक बोध का नाम दिया गया। इस आधुनिक बोध के बारे में गजानन माधव मुक्तिबोध का कहना है, "इस आधुनिक भाव बोध में उन उत्पीडनकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है जिन्हें हम शोषण कहते हैं, पूँजीवाद कहते हैं, साम्राज्यवाद कहते हैं तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है जिन्हें हम जनता कहते हैं, शोषित वर्ग कहते हैं।" गरज यह कि सन्त्रस्त तथा पीड़ित, दुर्बल मानसवाले मध्यमवर्ग के एक खास तबके की मानसिकता को युग की मानसिकता कहकर सामने लाया गया और अस्तित्ववाद जैसी दार्शनिक चिंतन-धारा को मूलवर्ती प्रेरणा के रूप में अपनाते हुए उस समय इस नए और आधुनिक बोध का नियामक बनाया गया, जबकि उसके प्रवर्त्तक सार्त्र उसे पीछे छोड़ते हुए मार्क्सवाद की दिशा में आगे बढ़ गए थे।

'हम जिसे आधुनिकतावाद कहते हैं (और जिसके स्वरूप तथा चरित्र पर हम अगली पंक्तियों में कुछ चर्चा करेंगे) वह आधुनिकता तथा आधुनिक भावबोध के

नाम से प्रतिष्ठित तथा विज्ञापित एक निहायत कलावादी, रूपवादी, व्यक्तिवादी तथा अस्तित्ववादी कला चिन्तन की वैचारिक समष्टि है, दो महायुद्धों के दौर में चली आ रही यथार्थवादी कला प्रवृत्तियों के सीधे विरोध में, जिसे पश्चिम के आधुनिक भावबोध से अनुप्राणित बुद्धि जीवियों, रचनाकारों एवं कलाचिन्तकों ने पोषित तथा पल्लवित किया है. पाश्चात्य कथा-साहित्य के क्षेत्र में ज्वायस, काफ्का कामू, प्रूस्त, राबर्ट मूसिल, नाटकों के क्षेत्र में हेनरी मिलर बेकेट तथा कविता और कला-चिन्तन के क्षेत्र में अमरीका के नव समीक्षावादियों, नए कवियों-एलेन, टेट, जानकी रेन्सम आदि-आदि की सर्जना में जिसे अभिव्यक्ति मिली है। हिन्दी में इस आधुनिकतावाद के पैरोकारों की एक लम्बी फेहरिस्त है जिसे नई कविता से लेकर अकविता, बीट कविता, श्मशानी कविता एवं नाटकों तथा उपन्यासों के क्षेत्र में दिखाई पड़ने वाली उसकी प्रकृतवादी, अतियथार्थवादी अस्तित्ववादी, नकारवादी (निहलिस्ट)रूपवादी रहस्यवादी प्रवृत्ति तथा विमानवीकरण, अकेलेपन सन्त्रास, मृत्युबोध, अस्पष्टता, अमूर्तता आदि को प्रश्रय देने वाली प्रवृतियों तथा अभिव्यक्तियों में पहचान जा सकता है। जैसा कहा गया, ये बातें आकस्मिक और स्फुट रूप में अलग-अलग न लाई जाकर यथार्थ के विरोध की एक संगठित योजना के तहत, एक कला-दर्शन तथा जीवन-दर्शन के सबध से लाई गई हैं, और ये ही कुल मिलाकर आधुनिकतावाद के दर्शन, उसकी विचारधारा तथा उसके कला-सिद्धान्त का निर्माण करती है, हम जानते हैं कि ये सारी प्रवृत्तियाँ और मनोदशाएँ पूँजीवादी व्यवस्था की देन हैं जिन्हें आधुनिकतावाद में स्वीकार किया गया है, या आधुनिकतावाद जिसके द्वारा पहचाना जाता है, आधुनिकता को हमने एक जीवंतकला चेतना के रूप में ही नहीं, एक सच्चे मानवीय आचरण के रूप में जाना और समझा है; जबकि आरोपित, किताबी अथवा आयातित मध्यवर्गीय मानसिकता से अनुप्राणित यह आधुनिकवाद न केवल एक कला-विरोधी दर्शन है, जिन्दगी को एक ही आयाम पर देखने और प्रस्तुत करने के नाते उसमें जिन्दगी की प्रतिनिधि तथा प्रामाणिक छवि का भी निषेध है, आधुनिकता की सही चेतना हर युग में कला-रचना और कला-चिन्तन को समृद्ध करती आई है, जबकि आधुनिकतावाद में कला और कला-चिन्तन दोनों को आहत और विनष्ट किया गया है, अतएव जब मार्क्सवादी चेतना आधुनिकतावाद और उसके इस सीमित संकुचित आधुनिक बोध का विरोध करती है तो उसे आधुनिकता की सही चेतना का विरोध नहीं समझना चाहिए, ऐसा समझना आधुनिकता की सही अवधारणा और मार्क्सवाद दोनों के प्रति अज्ञान का सूचक होगा।

हम आधुनिकतावाद को न केवल एक इतिहास विरोधी, विज्ञान-विरोधी और मनुष्य-विरोधी दृष्टि मानते हैं, हमारे मन से अन्ततः वह कला विरोधी दृष्टि भी है। आइए हम आधुनिकतावाद के चरित्र की वास्तविकता से परिचित हों।

आधुनिकतावाद के रचनाकारों का कृतित्व इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि उनके लिए न तो मनुष्य का कोई अतीत रहा है और न ही उसका कोई भविष्य है, मनुष्य जिस वर्तमान का भोक्ता है, वह भी नाना प्रकार की विसंगतियों तथा निष्क्रियताओं से भरा हुआ वर्तमान है, जिसमे वह जीने के लिए अथवा मरने के लिए (और वह भी कुत्ते की मौत ?) अभिशप्त है। वह इस धरती पर फेंक दिया गया है और उसे जीना है। उसकी नियति के सूत्र नेपथ्य की शक्तियों के हाथ मे हैं और वह लाचार और असमर्थ, उनके इंगितों पर अपनी अभिशप्त नियति को भोग रहा है। शक्तियों को वह जानता-पहचानता नहीं, किन्तु उनके आदेश मानने के लिए बाध्य है। उसका कोई भविष्य नही, जो कुछ है एक त्रासद वर्तमान और त्रासद वर्तमान के त्रासद क्षण हैं। काफ्का की प्रसिद्ध कृति 'द ट्रायल' के श्रीमान जोसेफ 'क' का प्रतीकी चरित्र इसका नमूना है। अब आइए इतिहास और उसके संदर्भ मे मनुष्य की अविच्छिन्न, अविराम चलने वाली जय यात्रा पर (जय-यात्रा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का शब्द है, जिसे उन्होंने निबंधो मे बार बार इस्तेमाल किया है)। सभ्यता तथा संस्कृति का अब तक का इतिहास हमे बताता है कि मनुष्यता के उषः काल से, प्रकृति की शक्तियों से निरन्तर युद्ध करते हुए, मनुष्य ने एक स्तर पर समाज का और दूसरे स्तर पर स्वतः अपना रूपान्तरण करते हुए निरन्तर अधः से ऊर्ध्व की ओर विकास किया है। इस विकास की गति को अवरुद्ध करने वाली, इतिहास के चक्रों को विपरीत दिशाओं की ओर मोड़ने वाली शक्तियाँ हर युग मे हुई हैं, किन्तु मनुष्य की यह जय-यात्रा निरन्तर गतिशील रही है, इतिहास को विपरीत दिशा की ओर ले जाने वाली शक्तियों के नाम आज हम घृणा से याद करते हैं जबकि मनुष्य की यह जय-यात्रा हमारे और सम्पूर्ण मनुष्यता के लिए सदैव गौरव का विषय रही है ! हम यह भी जानते हैं कि अपनी इस विकास यात्रा मे मनुष्य ने उस विज्ञान का भरपूर संबल लिया है जो उसे स्वयं की देन है। समस्त प्रकार के भाग्यवाद तथा नियतिवाद को, समस्त प्रकार के लौकिक-पारलौकिक झूठे दावों को और इन सबसे जुड़े बड़े से बड़े चिन्तन की उपपत्तियों को काटते हुए विज्ञान ने अधिकार के साथ इस बात को घोषित किया है कि संसार अज्ञेय नहीं, उसे जाना जा सकता है। वह यों ही विकासशील नहीं है, उसके विकास के अपने नियम हैं जिन्हें जानते हुए उनका उपयोग मनुष्यता के हित मे किया जा सकता है । हर प्रकार के पुनरुत्थानवाद तथा दकियानूसी का विरोध करते हुए विज्ञान ने यह भी घोषित किया है कि संसार मे समस्त घटनाएँ समझ मे आने वाली और समझाई जा सकने वाली प्राकृतिक सामाजिक शक्तियों की अन्योन्य क्रिया के परिणाम स्वरूप घटित होती हैं, कि मनुष्य सितारों की गर्दिश या मेहरबानी का निष्क्रिय शिकार नहीं, वरन् अपनी नियति का निर्माता है। विज्ञान समर्थित दार्शनिक चिन्तनों की निष्पत्ति रही है कि चूंकि संसार की पीड़ा

तथा दुःख आदि में मूल में भौतिक सामाजिक शक्तियों की ही सक्रियता है, अतएव उनकी पहचान करते हुए और उनके खिलाफ़ एकजुट होकर संघर्ष करते हुए उन्हें परास्त तथा संसार के दुःख और पीड़ा को दूर किया जा सकता है। अतएव मनुष्य के इतिहास को नकारने वाली, उसके किसी भी भविष्य के अस्वीकार करने वाली, तथा वर्तमान की विसंगतियों को एक अटल नियम के रूप में मनुष्य की नियति से सम्बद्ध माननेवाली विचारधारा को इतिहास विरोधी विचारधारा न कहा जाए तो और क्या कहा जाए ? मनुष्य के अब तक के जीवंत संघर्ष की अव मानना करने वाली, उसे अशक्त, असमर्थ और बेबस, अतीत तथा आगत से विच्छिन्न एक दयनीय शक्ल में पेश करने वाली विचारधारा को मनुष्य विरोधी विचारधारा न कहा जाए तो और क्या कहा जाए ? इसी प्रकार विज्ञान की अपनी क्षमताओं तथा जिसे वैज्ञानिक मानसिकता कहते हैं, उसका दमन करने वाली विचार पद्धति को विज्ञान विरोधी न कहें तो क्या कहें ?

जरूरी हो गया है कि हम सिद्धान्तों तथा जीवन दृष्टियों पर कोरी अकादमिक बहसों से बचते हुए उस जिन्दगी से जोड़कर उनके बारे में सोचें, जो हमारे सामने है और जिसे आज का मनुष्य जी रहा है। जरूरी है कि हाशिए की जिन्दगी को ही प्रामाणिक तथा प्रतिनिधि जिन्दगी मानने के भ्रम का परित्याग कर हम जिन्दगी के प्रमुख प्रवाह में पैठें, उन ताकतों को पहचानें जो मनुष्य की अब तक की सर्जनात्मक सामर्थ्य को विनष्ट कर देने के लिए तत्पर हैं। यह भी जरूरी है कि एक रचनाकार तथा कला-चिन्तक होने के नाते हम तय करें कि हम इतिहास को आगे बढ़ाने वाली ताकतों के साथ हैं या उसे पीछे फेंक देने वाली ताकतों के साथ। एक रचनाकार तथा कला-चिन्तक होने के नाते हमें इस बात से बचना है कि इतिहास-विरोधी, विज्ञान-विरोधी, दकियानूस ताकतें हमारा इस्तेमाल करें। सम्भव है कि हम जिन्दगी की विकासशील शक्तियों के साथ हों और अनजाने में उसकी प्रतिगामी ताकतों की मदद दे रहे हों, उनके हाथ का हथियार बन रहे हों, पूंजीवादी व्यवस्था का, जो वर्तमान की समस्त विसंगतियों की जिम्मेदार है, बुद्धिजीवियों का यह अपने हित में इस्तेमाल करने की कला में भी माहिर है, इस नाते हमें सचेत तथा सजग रहना है।

आधुनिकता के नाम पर जिन ह्रासशील प्रवृत्तियों का उल्लेख हमने किया है, जाहिर है कि वे सब पूंजीवादी व्यवस्था की उपज और उसका परिणाम हैं। पूंजीवाद के तमाम दुष्परिणामों के साथ मनुष्य उन्हें भी भोग रहा है। जाहिर है कि आज अकेलापन उसकी नियति बनता जा रहा है, वह अधिक से अधिक एक 'केस' या 'फाइल' बनकर रह गया है (पुनः जोसेफ 'क' को ही देखें)। किन्तु मनुष्य तब तक उन्हें भोगने के लिए अभिशप्त रहेगा जब तक कि वे भौतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ तथा कारण हैं, जिन्होंने उसे जन्म दिया है। जाहिर है कि हमें स्वतः

उसके खिलाफ उठना और झूझना है। उन्हें दूर करने के लिए आसमान के फरिश्ते नहीं आएँगे, उनके विरुद्ध मनुष्य को ही सक्रिय होना है। मनुष्य में इतना बल और इतना संकल्प है कि वह उनके खिलाफ खड़ा हो सके उनसे लड़ सके। इतिहास तथा विज्ञान का साक्ष्य तथा सम्बल भी उसके पास है। मनुष्य की अदम्य शक्ति तथा उसकी जिजीविषा का परिचय हमें हैमिंग्वे जैसे रचनाकार दे चुके हैं और सही रूप से दे चुके हैं। सचमुच वह दिन मनुष्यता के भविष्य के लिए सबसे दुःखद और दुर्भाग्यपूर्ण होगा जिस दिन मनुष्य की संकल्प शक्ति पर से हमारा विश्वास उठ जाएगा। महाभारत के युद्ध के बाद धरती वीरविहीन हो जाती है, ईश्वर तक को एक पशु की तरह मरना पड़ता है, फिर भी भारतवर्ष का विकास अवरुद्ध नहीं होता। दूसरे महायुद्ध के बाद सारा यूरोप जमीन पर आ जाता है, किन्तु आज वह फिर अपने पैरों पर खड़ा है। हिरोशिमा अणु बम की आग में पूरी तरह जलकर फिर नये वसंत के फूल की तरह खिल उठा है—यह सब किसने किया है? जब इस सवाल पर विचार करते हैं तो हमारे सामने बड़े महामहिमों को पीछे धकेलते हुए वही जन, सामान्यजन आकर खड़ा होता है जो न केवल इतिहास, वरन् अपने वर्तमान और भविष्य का निर्माता रहा है। कला तथा साहित्य की चरितार्थता इसी मनुष्य को उभारने तथा उसे उसके जीवन संघर्ष के क्रम में उसकी जय-पराजय के साथ चित्रित करने में है।

हम आधुनिकतावाद या आधुनिकतावादी सर्जना के विरोध में इसलिए नहीं हैं कि उसमें वर्तमान व्यवस्था की विसंगतियों तथा विडंबनाओं में स्वीकृति है। हम उनका विरोध इसलिए भी नहीं करते कि उनमें इन विसंगतियों के चक्र में फँसे मनुष्य की नियति का निर्मम उद्घाटन है। हम आधुनिक युग के सांस्कृतिक तथा नैतिक संकट और अँधियारे को एक क्षण के लिए भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहते, कारण कि ऐसा करना आधुनिक युग के जीवंत यथार्थ का अस्वीकार करना होगा। हम किसी प्रकार के ठढे या थोथे आदर्शवाद के, या निष्क्रिय आशावाद के भी विरोधी हैं। हम नारेबाजी या सदिच्छाओं या हवाई सपनों का भी विरोध करते हैं। आधुनिकतावादियों से हमारा विरोध और दृढ़ विरोध, मात्र इस नाते है कि उनके साहित्य में मनुष्य की अभिशप्त नियति को हम एक अटल नियम के रूप में पाते हैं, हम आधुनिकतावादी सर्जना की परिप्रेक्ष्य-विहीनता का विरोध करते हैं। हम लेखक से वर्तमान विसंगतियों का हल नहीं चाहते, हम उससे यह जरूर चाहते हैं कि वह यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता तथा प्रतिनिधि कला में चित्रित करते हुए आज की विसंगतियों की जिम्मेदार तथा मनुष्य को उसकी वर्तमान नियति देने वाली ताकतों की पहचान हमसे जरूर कराए। यदि वह इस अमानवीय व्यवस्था की इमारत की एक ईंट स्वयं खिसका सकने में अक्षम है तो कम-से-कम हमें इसके लिए प्रेरित करे। हमें अर्थात

मनुष्य को, उसकी संपूर्णता तथा प्रातिनिधिकता में, उसकी शक्ति तथा दुर्बलताओं के साथ पेश करे। और कहने की जरूरत ,नहीं कि आधुनिकतावादी सर्जना अपने गलत सोच के नाते इन्हीं बिन्दुओं पर असफल है और इसी नाते हमारे विरोध की पात्र है। 'मेटाफोर्सिस' या 'द ट्रायल' या कामू भूसिल आदि के उपन्यासों के चरित्र और उनकी दयनीय नियति, उनका व्यर्थताबोध हम पर अपनी छाप छोड़े, हमारा अनुशासन करे, इसके बजाय जरूरत इस बात की है कि हमारा ध्यान उस व्यवस्था पर जाए जिसने आज मनुष्य को यह नियति दे रखी है और उसे लेकर हम बेचैन और परेशान हो सकें। अधिक विस्तार में न जाकर हम अपनी आखिरी बात पर आना चाहेंगे कि आधुनिकतावाद में कला की समृद्धि नहीं उसका निषेध और उसका विनाश है।

वस्तुगत यथार्थ के प्रति जो नजरिया आधुनिकतावादियों का है, उसी का परिणाम उसका रूपवाद है। हम रूप का नहीं, रूपवाद का विरोध करते हैं। सही परिप्रेक्ष्य के अभाव में लेखक का रूपवादी होते जाना स्वाभाविक हो जाता है। व्यवस्था की विसंगतियों के प्रति दयनीय आत्मसमर्पण भी लेखक को रूपवादी बनाता है। चीजों को जब हम उनके सही रूप में देख पाने में असमर्थ होते हैं, तब हम उन्हें विरूप और विकृत करके देखते हैं। समय की जीवंत तावतों से कटकर हमारा अमूर्तन में उतरते जाना, अर्थ से परे होते जाना, संकेतों और ध्वनियों में आश्रय पाने लगना भी अनिवार्य हो जाता है। कथा साहित्य का उदाहरण लें तो स्पष्ट होगा कि उपन्यास में नायक की मृत्यु की घोषणा के बाद, चरित्रों की अनावश्यकता तथा कथानक की व्यर्थता की बात भी सिद्ध कर दी गई है। साहित्य और कला की सार्थकता के प्रतिमान उनकी मानवीय अर्थवत्ता में न रहकर उनके एकदम महीन और बारीक हो जाने में, अरूप और अमूर्त हो जाने में माने जाने लगे हैं। गहरे उतरने के क्रम में हम शायद रसातल में पहुँच गए हैं। अपने समय की विसंगतियों से क्षुब्ध और आहत फ्लाबेयर ने कहा था, "मुझे जो सुन्दर मालूम होता है, मैं जो करना चाहता हूँ वह है एक ऐसी पुस्तक लिखना, जो किसी चीज के बारे में न हो, बाह्य जगत से जिसका कोई लगाव न हो, अपनी शैली के आन्तरिक बल पर जो टिक सके, जैसे विश्व बिना किसी बाह्य सहायता के हवा में टहलता है, एक ऐसी किताब, जिसका लगभग कोई विषय न हो या जिसका *विषय लगभग अदृश्य हो, यदि यह सम्भव हो सके।*" हम जिसे कला कहते हैं वह यही है। जार्ज लुकाच ने इसी प्रकार के सन्दर्भ में आधुनिकतावाद को 'कला का निषेध' कहा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का आधुनिक काल : कुछ महत्त्वपूर्ण विचारणीय मुद्दे

1. साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन का सम्बन्ध यदि जनता की चित्त-वृत्तियों में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप साहित्यिक रचनाशीलता में हुए परिवर्तनों से है और जनता की चित्तवृत्तियों में परिवर्तन किसी समय के समाज में सक्रियसामाजिक-राजनीतिक स्थितियों में होने वाले परिवर्तनों से जुड़ा होता है तो साहित्येतिहास के किसी नए काल का निर्धारण करते समय जरूरी हो जाता है कि समाज में हुए परिवर्तन के फलस्वरूप जनता की चित्तवृत्ति में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते हुए साहित्यक रचनाशीलता के बदलाव की व्याख्या की जाय और नए काल-निर्धारण का औचित्य इस जमीन पर तर्कसम्मत ढंग से प्रतिपादित किया जाय। हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल का प्रारम्भ कब से माना जाय इस विषय पर छोटे-मोटे तमाम मतभेदों के बावजूद एक एकदम नया विचार डॉ० रामविलास शर्मा का है जिसकी चर्चा हम यहाँ न करके आगे करेंगे। फिलहाल, हम यही मानकर चलते हैं कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु बाबू के आविर्भाव के साथ होता है, और संप्रति यही मत अधिकाधिक मान्य भी है, तो एक महत्त्वपूर्ण सवाल विचारार्थ प्रस्तुत होता है जो महज आधुनिक काल के इतिहास के अध्यापन से जुड़ा सवाल न होकर आधुनिक काल के साहित्यिक इतिहास से जुड़ा सवाल भी है। सच पूछा जाय तो आधुनिक काल के साहित्येतिहास के अध्यापन से जुड़े सारे सवाल साहित्येतिहास के ही सवाल हैं और इतिहास के सही अध्यापन के सिलसिले में जिनका दबाव महसूस करना या जिनका अहसास होना लाजिमी है। इतिहास के सम्यक अध्यापन के लिए इतिहास बोध का होना या जिसे इतिहास विवेक कहते हैं उसका होना पूर्व शर्त है और यदि यह अध्यापन आधुनिक समय में होता है, जैसा कि वह हो रहा है और फिर आधुनिक काल के साहित्येतिहास का अध्यापन है, तो इस इतिहास-विवेक के साथ जिसे हम आधुनिक बोध कहते हैं, वह और

उसके साथ एक उन्नत प्रकार के साहित्य-विवेक की भी आवश्यकता है। बोध और विवेक की इस प्रकार की अनुपस्थिति में कवि-कीर्तन हो सकता है, साहित्य परिचय दिया जा सकता है, इतिहास का अध्यापन नहीं हो सकता। वस्तु—

जिस सवाल को महत्त्वपूर्ण मानकर यहाँ हम उठाना चाहते हैं और जो आधुनिक काल के साहित्येतिहास से रूबरू होते ही सबसे पहले हमारे सामने उपस्थित होता है उसका सम्बन्ध आधुनिक काल के साहित्य के उदय के पहले की हिन्दी जाति की सर्जनशीलता की लगभग सौ वर्षों की महत्त्वपूर्ण चुप्पी से है। इस अवकाश या इस चुप्पी को व्याख्यायित किए बिना आधुनिक काल की रचनाशीलता को एक नए मोड़ की रचनाशीलता कह पाने मे दिक्कत का अनुभव होता है। हम अपनी बात को कुछ विस्तार से स्पष्ट करने की अनुमति चाहेंगे।

आधुनिक काल के साहित्य के ठीक पहले साहित्येतिहास के जिस काल से हम परिचित होते हैं वह हिन्दी साहित्य के इतिहास का रीतिकाल है। कमोवेश इस रीतिकाल का समय सं० 1700से लेकर सं० 1900 तक माना गया है। इस रीतिकाल के, जिसके भी रचनाशीलता के हिसाब से कुछ विभाग किए गए हैं, अंतिम बड़े कवि पद्माकर हैं जिनका जन्म सं० 1810 माना गया है। बड़े कवि से यहां हमारा तात्पर्य पहली पांत के कवि से है जो चल रही रचनाशीलता में शिखर की रचनाधर्मिता के साथ सामने आए या उसके भीतर किसी नई प्रवृत्ति का पुरस्कर्ता बनता हुआ उस प्रवृत्ति मे प्रथम श्रेणी की रचनात्मक उपलब्धि लेकर सामने आए जैसे घनानंद। हमारा कहना यह है कि रीतिकाल के लक्षणग्रंथकार कवियों और स्वच्छंद कवियों दोनों को और फुटकल खाते के कवियों को भी शामिल कर लिया जाय तो जैसा कहा, पद्माकर समूचे रीतिकाल के अंतिम बड़े कवि के रूप मे हमारे सामने आते हैं। उनके उपरान्त रीतिकाल मे हमें ठाकुर, बोधा, पजनेस, द्विजदेव, जैसे कवि तो मिलते हैं जो न केवल सहृदय कवि हैं काव्य-रचना के हुनर में भी प्रवीण हैं, और इतिहास मे इसीलिए मान के साथ उल्लिखित होते हैं परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इनमें से कोई भी अपनी रचना मे इतना बड़ा नही है कि रीतिकाल के बिहारी, देव, घनानंद या पद्माकर की बराबरी कर सके। पद्माकर का जन्म संवत् 1810 है और आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्त्तक भारतेन्दु बाबू का 1907। पद्माकर और भारतेन्दु बाबू के बीच इस प्रकार सत्तानवे वर्ष का अन्तर है। हिन्दी भाषी प्रदेश का जो विस्तार है उसे देखते हुए क्या यह बात आश्चर्यजनक और विडंबनापूर्ण नहीं लगती कि इतनी विस्तृत और विराट जमीन पर लगभग सौ साल तक एक भी प्रथम श्रेणी की सर्जक प्रतिभा अपनी पहचान नहीं करा पाती, एक भी ऐसा रचनाकार सामने नहीं आता जो या तो चली आती हुई धारा में ही कोई शिखर-उपलब्धि करता या उसे इस प्रकार मोड़ता कि एक नया प्रवर्त्तन सम्भव हो पाता। आखिर इसका

कारण क्या हो सकता है । यह सौ सालों का अवकाश क्या कहता है । कहीं ऐसा तो नहीं है कि उन्नीसवी सदी के उत्तरार्धं के नवजागरण हिन्दी के अपने जागरण अथवा राष्ट्रवाद की उस भावना के उदय की चिनगारी सौ सालो के इस अवकाश के भीतर इन सौ सालों की ऐतिहासिक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के बीच,मुगल शासन के क्रमशः ह्रास तथा प्लासी की लडाई के बाद अंग्रेजी सत्ता के क्रमश: विस्तार और स्थायित्व मे हर प्रकार के सामर्थ्य से रहित देशी राजे रजवाड़ो के अपने अस्तित्व सकट के बीच जनता की परिवर्तित चित्तवृत्ति मे पल और पनप रही हो । जाहिर है कि इन सौ सालो मे माहौल वैसा ही नही रह गया था जैसा कि उस समय था जब आश्रयदाताओ के आश्रय मे रीतिकालीन कविता परवान चढ़ी थी । एक विदेशी सौदागर जाति अपनी शक्ति के बल पर देशी राजे-रजवाड़ो को ही नही देश की केन्द्रीय मुगल सत्ता को, उनके अस्तित्व को चुनौती दे रही थी । भारतीय समाज-व्यवस्था मे भारत की आत्म निर्भर ग्राम व्यवस्था मे अंग्रेज सक्रिय हस्तक्षेप कर रहे थे । भारत को रौंदा ही नही जा रहा था, लूटा भी जा रहा था और इस लूट का परिणाम साधारण जनता भोग रही थी, वह जनता जो इतिहास बनाती है । उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध मे जिस नवजागरण या पुनर्जागरण का रूप मूर्तिमान होता है और जिसे बहुत से लोग अंग्रेजी की शिक्षा या अंग्रेजी की देन मानते हैं, सच पूछा जाय तो पुनर्जागरण से जुड़ा राष्ट्रवाद, आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की जो एक मूलवर्ती प्रेरणा है, इन सौ सालो के भारतीय सामाजिक जीवन मे आए बदलाव के बीच ही अपनी शक्ल पाता है । लग-भग सभी प्रबुद्ध इतिहासकारो ने कहा है कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन यहाँ की सामाजिक परिस्थितियो से, साम्राज्यवाद की परिस्थितियो और उसकी शोषण-प्रणाली से पैदा हुआ है । वह उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियो से पैदा हुआ है जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज मे उत्पन्न हो गई हैं । उनके पैदा होने का कारण यह है कि भारत मे पूंजीपति वर्ग का उदय हो चुका है और चाहे शिक्षा की कैसी भी व्यवस्था क्यो न होती ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व के साथ उसकी प्रतिस्पर्धा अनिवार्य थी । यदि भारत के पूंजीपति वर्ग ने केवल सस्कृत मे लिखे वेदो का अध्ययन किया होता अथवा सभी तरह की विचारधाराओं से अलग हटकर मठो मे ज्ञान प्राप्त किया होता तो निश्चय ही संस्कृत मे वेदों मे भी उसे अपनी आजादी के संघर्ष की प्रेरणा से भरे सिद्धान्त मिल जाते ।

हम जो बात यहाँ कहना चाहते हैं वह यह कि इन सौ सालों के भीतर बदली, बदल रही स्थितियों के बीच उस प्रकार की रचनाशीलता के लिए कोई भी वस्तुगत आधार नहीं रह गया था और सच पूछा जाय तो वस्तुस्थिति के अनुरूप एक नई युग प्रवर्त्तक रचनाशीलता के लिए जमीन तथा वातावरण तैयार हो रहा था । सक्राति के इस काल मे इसी कारण लगभग सौ सालो तक हिन्दी जाति की

रचनशीलता के बीच से कोई प्रथम श्रेणी की सर्जक प्रतिभा सामने नहीं आ पाती। वह आती है सं० 1907 में भारतेन्दु बाबू के रूप में, जब हिन्दी साहित्य में एक नए युग का प्रवर्तन होता है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाज हित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थी। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। .... भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया।" भारतेन्दु के इस युग प्रवर्तन के प्रेरणा स्रोत वही थे जिनका जिक्र हमने पिछली पंक्तियों में किया है और इन प्रेरणा सोतों को रूप और गति मिलनी है उस अवकाश काल में, उस चुप्पी के समय, जो सौ सालों का अवकाश या सौ सालों की चुप्पी है।

2. किसी जाति के साहित्य का इतिहास उस जाति की साहित्यिक रचनाशीलता के साथ उसकी अपनी भाषा जातीय भाषा तथा उसके अपने जीवन, जातीय जीवन का इतिहास भी हुआ करता है। समाज में हुए परिवर्तनों के साथ जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन होता है और जनता की यह परिवर्तित चित्तवृत्ति उसकी साहित्यिक सर्जना में भाषा तथा अभिव्यक्ति की नई-नई भंगिमाओं के साथ प्रतिबिम्बित होती है। इतिहास लेखक, यदि वह सही मानों में इतिहास विवेक से लैस है, सामाजिक जीवन, जनता के जीवन और उस जनता की अपनी भाषा तथा सर्जना में छनकर आने वाले इस जीवन को उसकी सारी द्वंद्वात्मक भूमिका के साथ सश्लिष्ट रूप में एक व्यवस्था देते हुए अपने द्वारा लिखे गए इतिहास में मूर्त्त करता है। इस प्रकार देखा जाए तो सही इतिहास लेखक एक आंख से नहीं, अनेक आँखों से विवेकपूर्वक काम लेता हुआ इतिहास लेखन में प्रवृत्त होता है। किन्तु यह तो इतिहास लेखन की बात हुई। इतिहास का अध्यापन भी इसी प्रकार किसी किस्से-कहानी का अध्यापन न होकर किसी जाति की समूची सांस्कृतिक अस्मिता को पहचानने और पहचनवाने का एक नितान्त विवेकपूर्ण कर्म है। अध्यापन के स्तर पर मुख्य समस्या इस काम को पूरे विवेक के साथ अंजाम न दे पाने से सम्बन्ध रखती है। परिणामतः या तो कोरा कवि-कीर्तन सामने आता है या साहित्यिक सर्जना का एक नीरस, सिलसिलेवार दिया गया इतिवृत्त, तथाकथित साहित्यिक प्रवृत्तियों का समाज के सन्दर्भ से च्युत एक नीरस आख्यान। यही नहीं जरूरत इस बात की भी होती है कि हम किसी जाति के जीवन, उसकी भाषा तथा उसकी सर्जना की पहचान जहाँ तक सम्भव है और जहाँ तक उचित हो, समानधर्मी दूसरी जातियों के जीवन, भाषा तथा साहित्यिक सर्जना के मेल में कराएँ ताकि विविध जातियों के जीवन तथा सर्जना के बीच आवश्यक सम्बन्ध सेतु कायम हो सके, उनके बीच के सवाद का रूप उभर सके और समग्रता में एक भारतीय

प्रायः तो नहीं, परन्तु इस प्रकार के विचार इतिहास लेखन की परम्परा के साथ बराबर सामने आते रहे हैं कि इतिहास अथवा इतिहास लेखन की जरूरत ही क्या है? स्मरण रहे कि इतिहास लेखन की जरूरत को लेकर इस प्रकार के सवाल उठाने वाले समान मानसिकता से ही ऐसी बात नहीं करते। इनमें से एक वर्ग तो इतिहास विरोधी वर्ग है जिसके लिए साहित्य ही नहीं, मनुष्य का भी कोई इतिहास नहीं है। हम इन इतिहास विरोधियों के बारे में संप्रति कुछ नहीं कहना चाहेंगे कारण उन पर काफी कुछ कहा जा चुका है और हम उन्हें और उनके दायरों को अच्छी तरह पहचानते हैं, परन्तु दूसरे प्रकार के जो लोग इतिहास की जरूरत पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं वे इतिहास-विरोधी न होकर वस्तुतः एक दूसरी जमीन से इस प्रकार का सवाल उठाते हैं। सवाल है कि भारत में इतिहास लेखन की परम्परा क्यों नहीं रही, शायद यहाँ दूसरे स्तर पर इस प्रकार की जरूरत नहीं समझी गई। इतिहास तब तक इतिहास है, शव है, जब तक वह अपनी अतीतता में सीमित और कैद है, आगे के समय और उसके सरोकारों से विच्छिन्न उससे सम्वादहीनता की स्थिति में है, उससे निरपेक्ष है। इतिहास तब शव नहीं है, जीवन है, अतीत का होते हुए भी समकालिक है, इतिहास नहीं है, जब वह इस रूप में लिखा और हमारे सामने लाया जाता है गोया वह हमारा हमसफर हो, हमसे और हमारे समय से जुड़ा हो, हमसे और हमारे समय के साथ सवाद करता हुआ हो, हमारे प्रयोजनों की संगति में हो, हम उसे अपने लिए, अपने वर्तमान और अपने भविष्य के लिए जिलाए हुए हों, प्रासंगिक बनाए हुए हों, हम उससे वह सब कहला सकें, वह सब पा सकें, जो सीधे या परोक्ष रूप से हमारे अपने वर्तमान तथा भविष्य से जुड़ा हो। स्मरण रहे कि तथ्य ही इतिहास में सब कुछ नहीं होते उन तथ्यों को इतिहासकार अपने युग की जरूरतों के तहत नए सिरे से जिन्दा करता है, उनकी व्याख्या करता है, उन्हें अपने युगीन प्रतिपाद्य के सन्दर्भ में प्रासंगिक बनाता है और तब अपनी अतीतता को लिए हुए भी वे हमारे अपने समय के भी बनते हैं। वे इतिहास न रहकर समकालिकता पाते हैं, हमारे लिए जी उठते हैं। कहने का मतलब यह कि इतिहास को अतीत में घटित सत्य के रूप में न पेश कर या न पढ़ाकर उसकी अतीतता को छेड़े बिना समकालिक बनाकर पेश करना या पढ़ाना उसे अपने लेखे नई प्रासंगिकता देना, उसमें नए प्राण फूंक देना है। इतिहास इसलिए इन दूसरे लोगों के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि उनके लिए अपनी अतीतता के बावजूद और उसमें महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वह उसमें कैद न होकर सर्वकालिक और सदैव वर्तमान है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्यापन की सही प्रणाली इतिहास को समकालिक बनाकर, अपने समय के लिए अर्थवान बनाकर ही प्रस्तुत की जा सकती है। यही परम्परा के मूल्यांकन का भी सही नजरिया है जहाँ वह अतीत के

लेखे महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वर्तमान के लेखे भी अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करती है। इस प्रणाली में इतिहास गड़े मुर्दे उखाड़ना न होकर या एक नीरस चर्चा मात्र न रहकर हमारे वर्तमान बोध का सरस अंग बन सकेगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्यापन पर हम कुछ विस्तार से कहना चाहेंगे। यह बात हम कह चुके हैं कि इतिहास का अध्यापन कवि-कीर्तन या किस्से-कहानी का अध्यापन नहीं है। वह अतीत में घटित हुए का सिलसिलेवार अध्यापन भी नहीं है, वह अतीत को वर्तमान और भविष्य से जोड़ने वाला और इस जोड़ में एक संगति बिठाने वाला, इतिहास को वर्तमान और भविष्य के निर्माण के लिए नियोजित और इस्तेमाल करने वाला एक सजग कर्म है जिसके लिए इतिहास बोध और आधुनिक बोध, बोध न कहकर विवेक कहें तो ज्यादा उचित होगा, जरूरी है और चूँकि इतिहास साहित्य का इतिहास है, अतएव जरूरी है एक उन्नत साहित्य-विवेक जो *अपने समय की सर्जना और उसकी मूल्य-वत्ता से छनकर आया हुआ तथा उसके मूल्य और महत्त्व की पहचान करने वाला* विवेक होगा, इस बात के साथ कि *अपने समय के उसके इस मूल्य बोध तथा* साहित्य विवेक में परम्परा से अर्जित मूल्य बोध तथा साहित्य विवेक की भी विद्यमानता होगी। बिना इस तैयारी के, इस पूर्व शर्त के, साहित्येतिहास का अध्यापन पेशा होगा, दायित्वपूर्ण कर्म नहीं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास हमारे अपने समय की साहित्यिक सर्जना का इतिहास है गोकि जिस बिन्दु पर वह प्रारम्भ हुआ था आज वह एक सदी हमसे पीछे छूट गया है, परन्तु फिर भी वह जिस मंजिल और जिन संकल्पों के *तहत एक जाति की अस्मिता को मूर्त्त करता हुआ प्रस्थित हुआ था वह मंजिल आज भी हमारा प्राप्य है, वे संकल्प आज भी उतने ही नए और ऊर्जस्वित* हैं। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का प्रारंभ बिन्दु ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का भी प्रारंभ बिन्दु है। स्वाधीनता आन्दोलन के सारे आरोह-अवरोह, उनके सारे तेवर, उसके सभी आयाम और उसकी सभी छवियाँ आधुनिक हिन्दी की सर्जना में अंकित और नक्श हैं, यान्त्रिक स्तर पर नहीं, अपने अन्तर्विरोधों के साथ, अपनी समूची द्वन्द्वात्मक सक्रियता में सर्जनात्मक अभिव्यक्ति बनकर। यह आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य का अपना वैशिष्ट्य है कि वह आधुनिक काल के भीतर से उगा और विकसित होता हुआ साहित्य है, उसकी ऊर्जा से ऊर्जस्वित, उसकी अन्तर्वस्तु से निर्मित, उसकी अन्तर्वर्ती चेतना के सारतत्व से अनुप्राणित। इसमें स्वाधीनता आन्दोलन का इतिवृत्त भी है और उसकी आत्मा भी, उसके *विभ्रम और ठहराव भी हैं और उसकी गतिशील जीवंत वास्तविकता भी।* वह उसका अनुवर्ती भी रहा है और उसका पथ-प्रदर्शक भी। उससे प्रेरित और अनु-

कूलित भी हुआ है और उसे फलागकर उसके आगे भी गया है, अपनी जीवनी-शक्ति से उसे शक्तिवान भी बनाया है। समूचा स्वाधीनता आन्दोलन उसमे प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अपने सारभूत सत्य के साथ कलात्मक अभिव्यक्ति पा सका है, एक जीवित जाति की सर्जनेच्छा तथा सर्जन क्षमता का विषय बनकर उस जाति के अपने स्वत्व को सामने ला सका है। इस सर्जना के इतिहास का अध्यापन तब तक सम्भव नही है जब तक आधुनिक काल के अपने सारभूत सत्य का उसकी समूची प्रातिनिधिकता मे, औसत मे नही, हमे बोध न हो। जिस जाति की यह सर्जना है उस जाति के अपने बुनियादी सरोकारो से हमारा लगाव न हो साथ ही अनावश्यक को आवश्यक से, प्रतिनिधि को औसत से अलगाने की समझदारी तथा विवेक हममे न हो। इतिहास लेखक जो कुछ उपलब्ध है सबको इकट्ठा नही करता, वह तथ्यो मे चुनाव करता है, उन्हे व्यवस्था देता है, उनकी व्याख्या करता है और आवश्यक तथा प्रतिनिधि को एक खरे साहित्य विवेक तथा मूल्य बोध के तहत सही स्थान पर रखता है, महत् और साधारण तथा सामान्य मे अन्तर करता है, यह सब उसकी दायित्व चेतना का अग है अन्यथा इतिहास महत्त्वपूर्ण-अमहत्त्वपूर्ण घटनाओ तथा तथ्यो का सिलसिलेवार, किन्तु अराजक आख्यान बनकर रह जाए। यहीं साहित्य के इतिहासकार के लिए साहित्य का समीक्षक भी होने की पूर्व शर्त जुड़ती है और साहित्येतिहास के लिए समीक्षा अनिवार्य हो जाती है। साहित्य के इतिहास के माध्यम से हमे समीक्षा के मान मिलते हैं और इतिहासकार की समीक्षा दृष्टि नये सन्दर्भों मे नये समीक्षा मानो को जन्म देती है। साहित्य की धाराएँ उसकी प्रवृत्तियाँ तथा रचनाकार सब नया महत्त्व और नया अर्थ पाते हैं, इतिहास मे अपनी सही जगह पर प्रतिष्ठित होते हैं। ऐसा नही है कि इतिहासकार इतिहास लिखे और समीक्षक समीक्षा करे, इतिहास लेखक ही समीक्षक बनकर अपने द्वारा चुने तथ्यो को व्यवस्था तथा संगति देता है युग के सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण या अमहत्त्व-पूर्ण घोषित करता है और जो कुछ प्रतिनिधि सत्य के रूप मे सामने लाता है, उसका मूल्य और महत्त्व आँककर हमे भी उनकी सही पहचान देता है। आज जो इतिहास हमे उपलब्ध है जाहिर है कि आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी को छोड़-कर कोई भी उनसे आगे की चीज नही बना सका है। शुक्ल जी तथा द्विवेदी जी के इतिहास आधुनिक काल की सर्जना तथा अपने युग बोध को सामने लाते हुए भी आधुनिक साहित्य की वास्तविक मूल्यवत्ता को अनेक कारणो से अपेक्षित रूप मे प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। जो कुछ उन्होंने आधुनिक काल की सर्जना के बारे मे कहा है उसे लेकर मतभेद तथा विवाद भी हैं। मध्यकाल तक के साहित्य के बारे मे उनकी दिशा और दृष्टि हमे जिस प्रकार आश्वस्त करती है, आधुनिक काल की सर्जना के बारे मे हम वैसा नही कह सकते। इतिहास के रूप में न लिखा जाकर

भी समीक्षा ग्रन्थों में उपलब्ध दूसरा तमाम स्तरीय और अस्तरीय विवेक हमें जरूर मिलता है, जो लिखने वाले के अपने-अपने साहित्य विवेक तथा युग बोध से मण्डित है। इतिहास के रूप में न प्रस्तुत होता हुआ डॉ० रामविलास शर्मा का बहुत सारा कार्य वस्तुतः शुक्ल जी के बाद और द्विवेदी जी के बाद उनसे आगे की जमीन से किया गया इतिहास लेखक जैसा है, उसी समझदारी के साथ किया गया कार्य, जो इतिहास लेखन की बुनियादी पूर्व शर्त है और जिसका जिक्र हम कर चुके हैं। अपने आग्रह-पूर्वाग्रह यहाँ भी हैं, अपनी दृष्टि तथा दृष्टिकोण भी यहाँ हैं, परंतु जो कुछ उनके द्वारा प्रस्तुत हुआ है वह अनेक दृष्टियों से बहुत मूल्यवान है, आचार्य शुक्ल तथा द्विवेदी जी में एक गुणात्मक इजाफा है। हम यहाँ आधुनिक साहित्य के लिखे गए इतिहासों का मूल्यांकन नहीं कर रहे, हम डॉ० शर्मा के उल्लेख के माध्यम से एक ऐसे तथ्य को प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो आधुनिक साहित्य के इतिहास के अध्यापन में रेखांकित होना चाहिए और वह है अपनी जातीय परम्परा को पहचान कर उसके प्राणवान अंशों पर अपने को केन्द्रित करना तथा समूची जातीय सर्जना को थाहकर उसकी प्राणवान तथा जीवंत उपलब्धियों को पूर्ववर्ती उपलब्धियों से जोड़ना और इस प्रकार परम्परा के प्राणवान अंशों को एक निरन्तरता में हमारे समक्ष रखना, पूर्ववर्ती तथा परवर्ती में इस बिन्दु पर सम्बन्ध सूत्र कायम करना। ऐसा इसलिए ताकि कोई भी प्राणवान तथा जीवंत उपलब्धि अचानक आ टपकने वाली अथवा आरोपित, आयातित न होकर अपनी पूर्ववर्ती उपलब्धियों का ही विकास लगे, उसी लीक का विकास, या गुणात्मक स्तर पर उससे भिन्न परन्तु उसमें अनुप्राणित भी जैसा कि हर विकास होता है। भारतेन्दु और उनके युग से लेकर निराला की साहित्य-साधना तक अपनी किताबों में डॉ० शर्मा ने भारतेन्दु से लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द, निराला तक के सर्जनात्मक विकास तथा विचारधारात्मक संघर्ष के बीच आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की रचनात्मक उपलब्धियों, विचारधारात्मक ऊर्जा तथा हिन्दी साहित्य की अन्तर्वस्तु तथा रूप तत्व के विकास को और उसके प्रेरणा स्रोतों तथा रचनागत तथा विचारगत उपलब्धियों को, इस सर्जना की अन्तर्वस्तु तथा रूपतत्व के विकास को, उनके प्रेरणा स्रोतों के साथ, युगीन परिदृश्य और उनके बीच की क्रिया-प्रतिक्रिया को मूर्त्त करते हुए प्रस्तुत किया है और बताया है कि इस सर्जना की अन्तर्वस्तु और रूप माध्यमों की वह कौन-सी दिशा है, उनका वह कौन-सा अंग है, जो अपने युग के प्राणवान तथा प्रगतिशील शक्तियों की संगति में है तथा जो अविच्छिन्न रूप से आधुनिक काल के हर चरण में गुणात्मक रूप से विकसित होता रहा है और जो ही हिन्दी जाति की प्रतिनिधि कहा जा सकता है। इस रूप में स्वभावतः आधुनिक काल की सर्जना का वह अंश भास्वर हुआ है जो अपनी

सर्जनात्मक सम्भावनाओं का पूर्वाधार है और इस प्रकार आधुनिक युग की सर्जनशीलता का एक ऐसा इतिहास हमें मिलता है जो हमें उसके जीवन्त अंश की पहचान करता है तथा प्रतिगामी जर्जर अंश से उसे अलगाता हुआ आगे के लिए नई दिशा दृष्टि और आधार प्रदान करता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य इतिहास का अध्यापन करते समय यदि हम आवश्यक को अनावश्यक से, प्रगतिशील को प्रतिगामी से, सम्भावनायुक्त को सम्भावना शून्य से अलग करने का विवेक अपने साथ नही रखते, पूर्ववर्ती और परवर्ती मे आवश्यक सम्बन्ध-सेतु जहाँ है, उन्हें वहाँ नही पहचानते और समूचे विकास क्रम को उसके अन्तर्विरोधो के बीच से उगता हुआ नही देखते या दिखा पाते, रचना तथा विचारगत सघर्षों की बुनियादी आधार-भूमि, सक्रियता तथा उनकी निष्कर्षात्मक परिणति से परिचित नही होते, हम आधुनिक साहित्य का इतिहास पढ़ाने का भ्रम पाले हुए भी वस्तुतः इतिहास न पढ़ा रहे होंगे, कुछ और कर रहे होंगे। हमे इतिहास का अध्यापन करते समय यह दिखाना होगा कि भारतेन्दु के समय से लेकर अद्यावधि साहित्यिक सर्जनशीलता तथा विचार की जो प्रगतिशील प्राणवान परम्परा एक अविच्छिन्न क्रम के रूप मे सामने आ सकी है वह सीधी सपाट जमीन से होती हुई यहाँ तक नही पहुँची है वरन् अनेक अवरोधो को पार कर, अन्तर्विरोधो से गुजर कर, सर्जना तथा विचार की विरोधी लीकों से टकराती हुई सामाजिक जीवन के वस्तुगत आधारो, स्थितियो से प्राणशक्ति पाती हुई ही और तेजस्वी रचनाकारो की अपनी रचना सामर्थ्य के बल पर अपनी पहचान करा सकी है। यदि हम तर्क और तथ्य की जमीन पर ऐसा नही दिखा पाते तो हम इतिहास के अध्यापन का दावा नहीं कर सकते।

यही नही, हमे अध्यापन के दौरान इस बात के प्रति भी सजग रहना होगा कि परम्परा को अविच्छिन्न दिखाते हुए भी, प्रवृत्तियो की व्याख्या करते हुए भी, धाराओ का क्रम और समानान्तरता बताते हुए वैयक्तिक प्रदेय अर्थात रचनाकारो की अपनी सर्जन प्रतिभा तथा विचार सामर्थ्य को कतई नजरंदाज न होने दें। प्रवृत्तियो का, धाराओ का ही परिचय देने मे न रह जाएँ, उन्हें ही सारी मुख्यता न दे दें, वरन् कृतियो और कृतिकारो के पूरे वैशिष्ट्य को उभार कर प्रस्तुत करें। इस सारे काम के लिए गजब की वस्तुनिष्ठता चाहिए। वस्तुनिष्ठता इतिहास लेखन की बुनियादी शर्त है, यद्यपि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुनिष्ठता की इस माँग को हम इतना 'रिजिड' न बना दें कि इतिहास लेखक या इतिहास के अध्यापक के अपने विवेक को, उसके द्वारा अर्जित अपने बोध को, उसकी अपनी दृष्टि की जीवन्तता को अमान्य ही कर दें। वस्तुनिष्ठता के माने यही हैं कि हम इतिहास को इतिहास के रूप मे देखें, उसे उसके अपने समय के

सन्दर्भ मे पहचानें तथा प्रस्तुत करें, व्याख्या उसकी समकालिक चेतना के तहत करें ताकि वह अपनी जमीन पर रहता हुआ भी हमारे सरोकारों से जुड़े, हमारी जमीन पर आकर हमारा समर्थन न करे।

इतिहास लेखन एक कठोर अनुशासन है, अध्यापन भी। उसके लिए एक ऐसी दृष्टि चाहिए जो दूर और पास, व्यापकता और गहराई, स्थूल और सूक्ष्म सबमें गतिशील रहते हुए सार्थक और प्रतिनिधि को पकड़ सके, उसे एक जीवित तारतम्य मे रख सके, उसे मूल्यांकित कर सके। आधुनिक साहित्य को लें तो ढेरों विवाद, तमाम आन्दोलन, तमाम उद्वेलन साहित्यिक प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि मे रहे हैं। इनसे गुजरकर महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ भी हुई हैं, बुनियादी बदलावों का रूप उभरा है और सतही प्रवृत्तियाँ सामने भी आई हैं सहज प्रतिक्रियाओं पर आधारित नारेबाजी भी हुई और इस नारेबाजी को स्थाई महत्त्व का बताया गया है। इतिहास लेखक तथा इतिहास के अध्यापक को इन सबका यथोचित जायजा लेते हुए सही और बुनियादी को छद्म तथा सतही से अलगाना होगा और इनके परिणामों का भी सही मूल्य आँकना होगा। अराजकता में व्यवस्था लाना भी इतिहासकार और उसके अध्यापक का काम है। खरे इतिहास बोध तथा जीवन्त आधुनिक और समकालीन चेतना से लैस उन्नत साहित्य विवेक और समीक्षा दृष्टि का धनी इतिहास लेखक और अध्यापक यह काम कर सकता है। जिसमें इस सामर्थ्य की जितनी ही कमी होगी वह उतनी ही दूर तक काम को पूरा अंजाम नहीं दे सकेगा। समकालीनों पर कहना तथा उन पर मूल्य निर्णय देना सरल नहीं होता। सब कुछ सामने घटित होता है, जो एकदम इतिहास नहीं बन जाया करता है। उसके साथ हमारे अपने पूर्वाग्रह तथा राग द्वेष लगे रहते हैं, नजदीक से देखने पर चीजें अपनी समग्र पहचान में नहीं आती। आचार्य शुक्ल स्वत: समकालीनों पर लिखने मे सकुचित हुए थे। कितनी ही वस्तुपरकता का दावा कोई करे, समकालीन और सामने घट रहे में चूँकि उसकी भी साझेदारी होती है, वह उतना वस्तुपरक नहीं रह पाता। दृष्टियों तथा विचारधाराओं की भयानक टकराहट के इस युग मे, बातें इतने कोणों से और इतनी भिन्न जमीन से की जा रही है कि उनमें सम्बन्ध सूत्र बनाना सरल नहीं रह गया है। सरल वह कभी नहीं रहा, परन्तु आज तो अराजकता की स्थिति है। सर्जना की मूल्यवत्ता को लेकर विपरीत ध्रुव पर खड़े होकर बातें की जा रही हैं। साहित्य, समाज और जिन्दगी की अपनी-अपनी समझ को बुनियादी बताया जा रहा है। ऐसे समय मे जब दिशा-निर्देश भी न हो, अपनी समझ को इतिहास की समझ के साथ एक करके वस्तुपरक निर्णय लेना और देना मुश्किल है। हम अन्ततः यही कहकर पनाह माँगते हैं कि सच कौन है और कौन नहीं, इसे इतिहास ही तय करेगा। फिर भी, जो ज्वलन्त है, जो भास्वर है, जो इतिहास की गति में है वह चुप नहीं रहता, कौंधता

रहता है, अपनी पहचान कराता रहता है। हमारे देखते-देखते बहुत से समसामयिक आन्दोलन, प्रवृत्तियाँ तथा रचनाकार जो कुछ समय पहले बुनियादी, महत्त्वपूर्ण और स्थायी होने का दावा लेकर सामने आए थे, आज हवा हो गए हैं और जिन्हें गैर-बुनियादी, अमहत्त्वपूर्ण मानकर जबरन पीछे ठेल दिया गया था, आज दिशा निर्देश दे रहे हैं, एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी को, एक पूरे-के-पूरे युग की सर्जना को। नागार्जुन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, केदार सप्तकों के समय मे कहाँ थे? मुक्तिबोध तारसप्तक मे छपकर पीछे फेंक दिए गए थे, परन्तु इतिहास की ताकतें उन्हे सामने लाई और वे युग के प्रतिनिधि के रूप मे पहचाने गए। हमारे कहने का मतलब है कि इतिहास, आधुनिक साहित्य के इतिहास के अध्यापक को बड़ी समझदारी से अपने काम को अंजाम देना है ताकि जिन्हें हम यह इतिहास पढ़ा रहे हैं वे इतिहास की प्रक्रिया के भीतर से उपजती अपनी सर्जना को—उसके ऐतिहासिक महत्त्व को पहचान सकें, यह अनुभव करें कि उन्होंने वस्तुतः इतिहास पढ़ा है, एक जीवन्त इतिहास।

3—सवाल है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास की शुरूआत कहाँ से मानी जाए? वैज्ञानिकता का और सही इतिहास दृष्टि का तकाजा है कि समाज विकास के इतिहास के साथ ही साहित्य के विकास की भी चर्चा हो ताकि समाज के विकास और साहित्य के विकास के बीच के सम्बन्ध, जटिल और द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को एक-दूसरे की सापेक्षता मे हम जान समझ सकें। कदाचित इसी सदर्भ मे एक क्रान्तिकारी स्थापना डॉ० रामविलास शर्मा ने यह सिफारिश करते हुए दी है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल की शुरूआत बारहवी सदी से मानी जाय—पूँजीवाद के उदय के साथ, जिन्हे हम आधुनिक भारतीय भाषा कहते हैं, उनके और उन्हे बोलने वाली आधुनिक भारतीय जातियों के उदय के साथ उस बदलती हुई मानसिकता के साथ, उनके अनुसार, जिसके स्पष्ट चिह्न इन जातीय भाषाओ के साहित्य मे देख पड़ते हैं। बारहवीं सदी का यह समय थोड़ा-बहुत आगे भी बढ़ाया जा सकता है। उनका मुख्य कहना यह है कि जिसे हम आज तक हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के रूप मे जानते-पहचानते रहे हैं वह वस्तुतः हिन्दी साहित्य का मध्यकाल न माना जाकर उसका आधुनिक काल माना जाना चाहिए, उपर्युक्त तर्कों के आधार पर।

यह सही है कि समाज के विकास अथवा समाज के इतिहास का जो वैज्ञानिक विवेक अथवा इतिहास दृष्टि हमारे पास है उसके अनुसार पूँजीवाद के उदय के साथ समाज के आधुनिक काल का उदय मानना संगत है और आधुनिक जातियों और जातीय भाषाओ का उदय भी पूँजीवाद के उदय के साथ जुड़ा हुआ है और ये सारी बातें, जिसे अब तक हम मध्यकाल का हिन्दी साहित्य मानते हैं, उसके साथ जुड़ी हुई हैं। मसलन भक्ति आन्दोलन का उदय ही सामंती जकड़बन्दी के कमजोर

होने की सूचना देता है, निर्गुण कविता मुख्यतः ऐसे सन्तों को सामने लाती है जो शिल्पकार या कामगर हैं, अंत्यज या नीच हैं और जाहिरा तौर पर उनकी कविता में सामंती व्यवस्था का, सारे सामंती 'सुपरस्ट्रक्चर' का विरोध भी है, एक मानव संस्कृति की बात है मानवतावादी स्वरों की प्रधानता है, जातीय चेतना की भास्वरता है, जातीय अस्मिता ही नहीं, जातीय भाषा और जातीय अस्मिता के साथ जातीय चेतना का अतिक्रमण कर अधिक बड़े परिप्रेक्ष्य में एक-दूसरे के साथ सांस्कृतिक स्तर पर आदान-प्रदान भी है, इन्हीं सब बातों के नाते भक्ति आन्दोलन विभिन्न जातियों का सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ही न रहकर एक अखिल भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक जागरण या नव-जागरण का सूचक है, परन्तु फिर भी इस सब को आधुनिक काल की शुरूआत मानकर आधुनिक चेतना से जोड़कर देखने से, आधुनिक काल के अन्तर्गत मान लेने में अनेक प्रकार की दिक्कतें हैं और ये व्यावहारिक दिक्कतें ही न होकर बुनियादी प्रकार की दिक्कतें हैं, विचारों की उसी जमीन से उठी दिक्कतें हैं जिस पर और जिनके *आधार पर मध्य काल के इस साहित्य को आधुनिक काल के अन्तर्गत मान लेने* की सिफारिश की गई है।

सवाल है कि पूंजीवाद के कौन-से रूप को आधुनिक काल के उदय का सूचक माना जाय—औद्योगिक पूंजीवाद को, जो इस समय नहीं था, बावजूद छोटे स्तर पर होने वाली छुटपुट औद्योगिक प्रगति के जबकि समाजों के इतिहास में सब कहीं औद्योगिक पूंजीवाद के उदय को ही आधुनिक युग का निर्णायक बिन्दु माना गया है। औद्योगिक पूंजीवाद के पहले व्यापारिक पूंजीवाद की स्थिति होती है और इस मध्यकाल में उसकी स्थिति से हमें इंकार नहीं है। औद्योगिक पूंजीवाद जिस प्रकार समाज की पूरी संरचना को, पुरानी या चली आ रही संरचना को क्षत-विक्षत करता है, व्यापारिक पूंजीवाद की यह स्थिति क्या भारतीय समाज के इस दौर की संरचना को इसी प्रकार क्षत-विक्षत करती, क्योंकर भक्ति आन्दोलन के शताब्दियों के क्रिया-कलाप और जागरण के बाद हिन्दी साहित्य में रीतिकाल का आविर्भाव होता है और रीतिकाल ही क्यों, स्वतः भक्तिकाल में ही कृष्ण और राम भक्ति की धाराओं में क्रमशः वही सामन्ती जकड़बन्दी पुनः स्थापित हो जाती है, जिसके शिथिल होने के नाते ही सन्त साहित्य के स्वर उभरे थे। ये तमाम सवाल हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं यदि हम उपर्युक्त तर्कों के आधार पर इस मध्य काल से आधुनिक काल का प्रारम्भ मानने की सिफारिश करते हैं। यही नहीं, राष्ट्रवाद का जो उदय सभी समाजों में औद्योगिक पूंजीवाद के उदय के साथ होता है, विज्ञान के प्रवेश के साथ जो वैज्ञानिक मानसिकता मध्यकालीन बोध को आधुनिक बोध से पृथक् करती है, धर्म और अध्यात्म, व्यक्तिगत साधना और मोक्ष के स्थान पर सामाजिक मुक्ति के जो स्वर औद्योगिक पूंजीवाद के साथ उत्पन्न

राष्ट्रवाद और आगे चलकर समाजवाद के तहव सुनाई पड़ते हैं, इन सबको व्यापारिक पूँजीवाद की स्थिति वाले किन्तु धर्म, प्राण, व्यक्तिगत साधना तथा मोक्ष पर बल देने वाले, सामंती जकड़बन्दी के विरोध मे उठे हुए स्वरो के बावजूद सामंती आधार की आत्मनिर्भर ग्राम व्यवस्था वाले मध्यकाल मे कैसे और किस रूप मे पाया जा सकता है? अकादमिक और तकनीकी स्तर पर हम अगर कुछ सिद्ध भी करें तो व्यावहारिक स्तर पर सामने आने वाली कठिनाइयों को कैसे नजरदाज किया जा सकता है? समाज और साहित्य का विकास समानान्तर होने की बात भी एकदम यान्त्रिक तरीके से नही लागू की जा सकती। समाज तथा साहित्य के विकास मे समानता के साथ अन्तराल भी होते हैं, अन्तर्वस्तु तथा रूप के विकास की अपनी परेशानियाँ होती हैं। साहित्य का विकास सामाजिक विकास की अनुरूपता मे होता हुआ भी उसका यान्त्रिक प्रतिबिम्ब नहीं होता, समाज का विकास साहित्य के विकास को गति देता है और साहित्य का विकास सामाजिक विकास को गति प्रदान करता है। इसमे 'ओवर लैपिंग' भी होता है, इन तमाम बातों को भी समाज तथा साहित्य के समान विकास की बात करते हुए ध्यान मे रखना चाहिए। डॉ॰ शर्मा की अपनी तर्क शृखला के महत्व को मानते हुए भी व्यावहारिक जमीन पर उसे स्वीकार करने मे समस्या का समाधान उतना नही होता जितना वह और उलझ जाती है। बहुत विस्तार न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध से जो मानी गई है वह संगत है, विचार की उसी जमीन पर संगत, जिस जमीन पर उसकी शुरूआत डॉ॰ शर्मा ने मध्यकाल से मानी है। फर्क इस बात का है कि इस आधुनिक काल का सम्बन्ध व्यापारिक पूँजीवाद से जोड़ा जाय या औद्योगिक पूजीवाद से। जातियो के निर्णय का मसला फिर भी शेष रह जाता है पर यह और लम्बी बहस का विषय है।

4—इस क्रम मे एक दूसरी समस्या की चर्चा भी कर लें जो जनपदीय बोलियो या भाषाओ के पैरोकारों की ओर से उनकी अपनी बोलियो या भाषाओ के साहित्य को आधुनिक काल के साहित्य मे शुमार न करने के आरोप के साथ सामने आती है और हिन्दी से सर्वथा स्वतन्त्र अपनी बोलियो या भाषाओ की अस्मिता की घोषणा करते हुए अलगाव या पृथकतावाद का नारा लगाती है। इस समस्या के कई कोण हैं और जरूरी है कि हम उसके हर कोण पर विचार करें और उसे महत्त्व दें। इस समस्या का एक दूसरा छोर इस तर्क के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि जिसे हिन्दी साहित्य का इतिहास कहा जाता चाहिए वह वस्तुत: खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य का ही इतिहास है और 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' जैसी किताब लिखकर शिवदानसिंह चौहान इस मत को लेकर सामने आ भी चुके हैं। जरूरी है कि इस सारी समस्या पर गम्भीरता के साथ विचार हो।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से हिन्दी के संकुचित तथा व्यापक अनेक अर्थ हैं। स्वतः हिन्दी शब्द हिन्दी का नहीं, मुसलमानों का दिया हुआ शब्द है। अपने संकुचित और सीमित अर्थ में हिन्दी खड़ी बोली हिन्दी है जिसका आज गद्य तथा पद्य में व्यापक प्रयोग होता है, जो मानक भाषा के रूप में स्वीकार हुई है और जिसे ही *राष्ट्रभाषा राजभाषा कहा गया है। शिवदानसिंह चौहान की बात इसी जमीन पर* स्वीकार की जा सकती है। उनकी 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' किताब वस्तुतः खड़ी बोली हिन्दी साहित्य के अस्सी या अब अधिक वर्षों के इतिहास की किताब है। यह सही है कि खड़ी बोली हिन्दी के पहले की जनपदीय बोलियों या भाषाओं के लिए हिन्दी शब्द मुसलमानों की ओर से आया, उन बोलियों या भाषाओं के लोगों की ओर से नहीं, परन्तु हिन्दी अपने व्यापक अर्थ में इन सभी जनपदों की बोलियों और भाषाओं के समूह का द्योतक शब्द भी है। जिसे हम हिन्दी प्रदेश या हिन्दी भाषी प्रदेश कहते हैं उस प्रदेश का, मध्यदेश का द्योतक शब्द भी है, और इस अर्थ में ब्रज, अवधी, बुंदेली, राजस्थानी मैथिली आदि बोलियाँ या भाषा उपभाषा होते हुए भी हिन्दी हैं और हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके साहित्य का समावेश सर्वथा जायज है। इसी नाते अद्यावधि शिवदानसिंह चौहान के अलावा सभी इतिहास लेखकों के द्वारा उनके साहित्य को हिन्दी के साहित्य में समाविष्ट किया गया है *और वह भाषाविदों द्वारा मान्य भी हुआ है। जब तक इन जनपदीय बोलियों या* भाषाओं के निर्माण या गठन की प्रक्रिया जारी रही, एक या एकाधिक जनपदीय बोलियाँ अपने जनपदों का अतिक्रमण कर दूसरे जनपदों में साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा की पदवी पाते हुए ग्राह्य हुईं, हिन्दी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत उन सबके साहित्य की गणना हुई, सबका मिला जुला साहित्य हिन्दी साहित्य कहलाया, हिन्दी प्रदेश का साहित्य कहलाया। स्मरण रहे कि इस अवधि में अवधी ब्रज, बुंदेली आदि भाषाओं में लोक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में रचा गया होगा परन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन जनपदीय भाषाओं का साहित्यिक स्तर पर मान्य शिष्ट साहित्य ही उल्लिखित और विवेचित हुआ है। परन्तु 11वीं सदी के उत्तरार्ध में पश्चिम की खड़ी बोली जब अनेक कारणों से अपनी जनपदीय सीमाओं का अतिक्रमण कर दूसरे जनपदों की भाषाओं या बोलियों को पीछे छोड़कर भाषा के स्तर पर समूचे हिन्दी प्रदेश में व्यवहार तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई हिन्दी प्रदेश के विविध जनपदों के बीच पारस्परिक विचार-विनिमय, बाजार-व्यापार आदि का माध्यम, (यद्यपि थी वह पहले भी, भले ही उसमें साहित्य रचना न हुई हो, साहित्यिक अभिव्यक्ति में भी उसका रूप बहुत पहले अमीर खुसरो से ही या उसके भी पहले से पाया जाता है) तब हिन्दी साहित्य का जो भी इतिहास लिखा गया अर्थात् आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य का इतिहास, उसमें स्वाभावतः उसी खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य की चर्चा हुई।

और ऐसा होना भी चाहिए था। यह खड़ी बोली हिन्दी अब किसी जनपद विशेष से संबद्ध न रहकर समूचे हिन्दी प्रदेश की भाषा है, समूची हिन्दी जाति की एकता की प्रतीत भाषा है, और जाहिरा तौर पर सारी जनपदीय बोलियों और भाषाओं से अपने को प्राणवान बनाने वाली भाषा है। अतएव आज जबकि खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य को ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रस्तुत किया जाता है तो इससे जनपदीय बोलियों और भाषाओं से जुड़े लोगों को हैरान नहीं होना चाहिए क्योंकि जनपदीय स्तर पर या उससे कुछ अधिक उनकी अपनी बोली या भाषाएँ भले ही अपना साहित्य लेकर सामने आ रही हो और वह निश्चित रूप से हिन्दी प्रदेश की भाषाओं और बोलियों का साहित्य है, परन्तु उसकी चर्चा अलग इतिहास ग्रंथों में या आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में अलग से होनी चाहिए, परन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख प्रवाह में खड़ी बोली के हिन्दी साहित्य की ही चर्चा उचित है। ऐसा इसलिए कि यह खड़ी बोली, जैसा कहा गया, समूची हिन्दी जाति की एकता की प्रतीक, उसकी मानक भाषा के रूप में मान्य है। अपनी बोली अथवा अपनी जनपदीय भाषा को हिन्दी से स्वतंत्र घोषित करने के पीछे प्रादेशिक 'शावनिज्म' की प्रेरणा ही मानी जाएगी। हम जब इन जनपदीय बोलियों या भाषाओं को हिन्दी की बोलियों या उपभाषा मानते हैं तो हमारा आशय यही होता है कि ये हिन्दी प्रदेश की बोलियाँ या उपभाषाएँ हैं, खड़ी बोली मानी जाने वाली हिन्दी की नहीं। पृथकतावाद की यह भावना कितनी घातक है हिन्दी भाषा के लिए, इन जनपदीय बोलियों और भाषाओं के लिए, इन जनपदों के लोगों के विकास के लिए, राष्ट्रीय एकता के लिए और इसके पीछे जो शक्तियाँ कार्यरत हैं, हमें उनके बारे में सोच समझकर ही किसी आन्दोलन को खड़ा करना चाहिए। हिन्दी भाषा, हिन्दी भाषी प्रदेश और उसके अंतर्गत अपनी-अपनी बोलियों से जुड़े लोगों का हित इसी बात में है कि वे आज की मानक खड़ी बोली हिन्दी को उसी भावना से अपनाएँ, जिस भावना से अवधी बोलने वाले महावीरप्रसाद द्विवेदी ने, भोजपुरी के भारतेन्दु ने और इसी प्रकार हिन्दी के महान रचनाकारों ने उसे अपनाया था, उसे आगे बढ़ाया था, हिन्दी जाति की एकता के नाते। अस्तु—

इस विवाद को यहीं पर खत्म करके हम हिन्दी उर्दू के सवाल पर संक्षेप में विचार करना चाहेंगे।

उर्दू हिन्दी की एक शैली है अथवा स्वतंत्रभाषा इस बात पर बहुत विचार और विवाद हो चुका है। हिन्दी उर्दू पर साम्प्रदायिकता का रंग चढ़ाकर एक को हिन्दुओं की और दूसरी को मुसलमानों की भाषा कहकर भी काफी कुछ विष बोया और काटा जा चुका है। उर्दू को उत्तर प्रदेश और बिहार में दूसरी भाषा का दर्जा दिलाने के पीछे और हिन्दी उर्दू के बीच भेद और फर्क की दीवार खड़ी

करने की राजनीति और उसके दुष्परिणामों से भी हम वाकिफ हैं। हम इन सारे सवालों को और उनसे जुड़ी चर्चा को फिर से कुरेदना नहीं चाहते। हमारी गुजारिश सिर्फ इतनी है कि लिपि के अन्तर तथा शब्दावली के अपने-अपने अतिवाद से परे हिन्दी उर्दू का एक ऐसा रूप भी है जो न तो हिन्दू है, न मुसलमान, न संस्कृत प्रधान है, न अरबी-फारसी प्रधान, जो हिन्दी प्रदेश में एक लम्बे अर्से से हिन्दु-मुसलमान दोनों के द्वारा जाना पहचाना जाता रहा है, जिनमें दोनो परस्पर वैचारिक आदान प्रदान करते रहे हैं और जो साहित्यकारों द्वारा भी अपनाया जाता रहा है। हिन्दी और उर्दू मे भेद और अलगाव पैदा करने वाले तत्त्वों पर ध्यान देने से और उनके आधार पर अपना आन्दोलन खड़ा करने से ज्यादा जरूरी है कि हम उस जमीन पर अपने को केन्द्रित करें जिस पर हिन्दी-उर्दू दोनों एक जबान के रूप में उगती और पल्लवित होती रही हैं। आज की हिन्दी भी खड़ी बोली का ही एक रूप है और उर्दू भी उसी खडी बोली का ही दूसरा रूप। मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक हिन्दू मुसलमान लेखकों की एक कतार है जिसने हिन्दी उर्दू की दोनों को अपनी ही जबान के रूप में माना है और अपनी कृतियों में उनके ऐसे रूप को उभारा है जो अतिवादी अथवा सांप्रदायिक आग्रहों से अलग है। तरजीह इसी को देने की जरूरत है। उर्दू को हिन्दी से अलगाने के बजाय या हिन्दी को उर्दू से अलगाने के बजाय यदि हम हिन्दी उर्दू की एकता को मानकर चलें तो हिन्दी उर्दू साहित्य के इतिहास की हिन्दी साहित्य के इतिहास की अनेक विलुप्त कड़ियां जुड़ती नजर आएंगी। हमने प्रारंभ में सौ साल की चुप्पी की जो बात की थी इस जमीन पर वह चुप्पी टूटती हुई नजर आएगी और भारतेन्दु के पहले और पद्माकर के बाद हमे, मीर, सौदा नजीर, गालिब आदि मिलेंगे और लगेगा कि मध्यदेश की रचनाशीलता में लंबा विरामचिह्न कभी नहीं लगा है। खड़ी बोली का गद्य भी उन्नीसवों सदी के पहले तब हमें ब्रजभाषा का अपरिपक्व गद्य नही, खड़ी बोली का उर्दू कहा जाने वाला साफ-सुथरा गद्य भी मिलेगा और खड़ी बोली गद्य के इतिहास को हम और भी निखरे हुए रूप में पेश कर सकेंगे। उर्दू साहित्य के इतिहास को हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान मिले और हिन्दी साहित्य का इतिहास उर्दू साहित्य के इतिहास का अंग बने, यह स्थिति काम्य है। हम कहेंगे कि हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई हिन्दी साहित्य के एक दो कालखण्डों को छोड़कर कभी इतनी गहरी नहीं रही जैसा कि आज दिखाई दे रही है। छायावाद और प्रयोगवाद तथा नई कविता को छोड़कर हिन्दी-उर्दू सब कालखंडो मे परस्पर मिलती-जुलती रही हैं हिन्दी के तमाम वरिष्ठ लेखक हिन्दी के साथ-साथ उर्दू के लेखक भी रहे हैं और यह सिलसिला आज तक चला आ रहा है। इसे गति देने की जरूरत है और जरूरत है हिन्दी उर्दू के तथाकथित पक्षधरों को अपनी सांप्रदायिक मानसिकता छोड़ने की—जिस जमीन से उर्दू उगी है उसे उस जमीन

की गंध से, उसके अपने संस्कारों से ओतप्रोत करने की। यदि ऐसा हो सके तो यह हिन्दी उर्दू दोनो के हित मे है, राष्ट्र के हित मे है।

अब हम एक बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल पर आना चाहेंगे जिसका सम्बन्ध आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की व्यवस्था से, सौ वर्षों से ऊपर की उसकी रचनाशीलता के सम्यक वर्गीकरण और विभाजन से है, जो एक बडी समस्या के रूप मे अध्यापन के स्तर पर भी विद्यमान है, और इस रचनाशीलता को उसके सही संदर्भों मे पहचानने से भी जुडा है।

आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल को प्रवृति के अनुसार गद्यकाल कहा है, और तदुपरान्त उसे गद्य खंड, और पद्य खड इन दो विभागो मे बांटकर गद्य प्रवाह के अंतर्गत तीन उत्थानों की और पद्य प्रवाह के अतर्गत तीन उत्थानो की चर्चा की है। किसी भी कालखण्ड के नाम उन्होंने व्यक्तियो के आधार पर नही दिए हैं। प्रवृत्तियो की चर्चा जरूर उन्होंने की है और गद्य के अतर्गत गद्य की विभिन्न विधाओं का विकास प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्ल का यह उपक्रम अनेक प्रकार की उलझनों और समस्याओ को जन्म देता है। आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए इस विभाजन में गद्य तथा पद्य प्रवाह समान कालखण्ड से संबंधित होते हुए अलग थलग लगते हैं और किसी एक कालखण्ड मे गद्य तथा गद्य विधाओ के विकास तथा उनकी प्रवृत्तियो का काव्य तथा उसकी प्रवृत्तियो से कोई तालमेल नही दिखाई पडता। एक ही काल खण्ड मे गद्य तथा पद्य की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों तथा परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो की व्याख्या भी यहाँ नही मिलती। आचार्य शुक्ल के विभाजन तथा व्यवस्थापन से हटकर दूसरे तमाम प्रयास जो इस बारे मे हुए, उनकी फेहरिश्त पेश करना जरूरी नहीं है, कारण उनसे अधिकतर हम परिचित हैं। गद्य तथा पद्य दोनों संदर्भ मे व्यक्तिपरक तथा प्रवृत्तिपरक विभाजन करते हुए भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग जैसे नाम भी सामने आए हैं और जो लोकप्रिय और ग्राह्य भी हुए हैं। इसी प्रकार कविता के विकास को दर्शाने वाले छायावाद युग, प्रगतिवाद युग, प्रयोगवाद युग, नई कविता, साठोत्तरी कविता जैसे नाम तथा उपन्यास, नाटक, समीक्षा के सिलसिले मे 'प्रेमचंद युग', 'प्रेमचंदोत्तर युग', 'प्रसाद युग', 'प्रसादोत्तर युग', 'शुक्ल युग' और 'शुक्लोत्तर युग' जैसे नाम भी सामने आए हैं और अपने-अपने संदर्भों मे धडल्ले से चल रहे हैं। छायावाद काल, छायावादोत्तर काल, स्वातत्र्योत्तर काल जैसे काल विभाग भी प्रचलन मे हैं। प्रचलन की बात छोड़ दें तो इन सारे नामो और इस सारे विभाजन की संगति आधुनिक काल के साहित्य के व्यवस्थित विकास और उसकी सही पहचान को हमारे सामने नही लाती।

जरूरत आधुनिक साहित्य के समूचे विकास को एक व्यवस्था देने की है, सुस्पष्टता के साथ इस प्रकार का काल विभाजन करने की है कि उनके अंतर्गत गद्य या पद्य की समान या परस्परविरोधी प्रवृत्तियों की स्थिति दर्शाई जा सके और उनकी तर्क सम्मत व्याख्या की जा सके। जो विभाजन किया जाए वह तर्क सम्मत हो और साहित्यिक विकास के साथ सामाजिक जीवन की पहचान से भी जुड़ा हो। एक विनम्र प्रयास के रूप में एक रूपरेखा विचारार्थ प्रस्तुत है—

आधुनिक काल का प्रारंभ भारतेन्दु बाबू की सर्जना से ही माना जाए परन्तु आधुनिक काल के प्रारंभ की तिथि 1857 ई० स्वीकार की जाय, इस नाते कि यह राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की शुरूआत की तिथि है साथ ही हिन्दी जाति के, इस संघर्ष में सर्वप्रमुख योगदान, त्याग और बलिदान की भी तिथि है। 1857ई० का मुक्ति संघर्ष डा० रामविलास शर्मा के अनुसार राष्ट्रीय संघर्ष के साथ हिन्दी जाति का अपना संघर्ष भी है।

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का जो सिलसिला 1857 ई० से प्रारंभ होता है वह निरंतर चलता रहता है और राष्ट्रीय मुक्ति की जो परिकल्पना हिन्दी लेखक पेश करते हैं वह अद्यावधि भी हमारा प्राप्य ही बनी हुई है। राजनीतिक मुक्ति भारत को जरूर मिलती है, परन्तु जिसे सही अर्थों में मुक्ति कहा जा सके उस मुक्ति के लिए भारत का जन-गण आज भी संघर्षरत है। अतएव हमारी सिफारिश है कि राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष अथवा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को आधार मानते हुए 1857 ई० से अब तक के समूचे काल खण्ड को राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का काल कहना चाहिए। आधुनिक काल अपनी प्रवृत्ति की दृष्टि से, अपनी अंतर्वस्तु में, राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का काल है। जाहिरा तौर पर इस मुक्ति संघर्ष के अपने उतार-चढ़ाव तथा अंतर्विरोध हैं और वे सब आधुनिक काल के गद्य तथा पद्य साहित्य में मूर्त भी हुए हैं।

यदि हम आधुनिक काल के साहित्य को राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का काल मान लेते हैं तो हमें इस मुक्ति संघर्ष को कुछ चरणों में बांटकर देखना होगा और वे चरण ऐसे होने चाहिए जो मुक्ति संघर्ष के बदले हुए तेवरों के साथ साहित्य की बदली हुई अंतर्वस्तु की ओर भी इशारा करें। इस दृष्टि से राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का पहला चरण 1857 ई० से 1900 ई० तक का होगा, जिसे हम भारतेन्दु युग कहने के अभ्यस्त हैं, उस तक। यह कालखण्ड राष्ट्रवाद के उदय का काल है, जागरण का काल है। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के दूसरे चरण में 1900ई० से लेकर 1930 ई० तक के काल खण्ड को हम लेना चाहेंगे जो वस्तुतः सुधारवादी-आदर्शवादी-मनोभूमि का काल है। अब तक के हमारे जाने-पहचाने द्विवेदीयुग तथा छायावाद

युग इसके अंतर्गत आएगे। 1930 की तिथि 1936 ई० तक भी बढ़ाई जा सकती है परन्तु चूंकि बदलाव के संकेत 1930 ई० से ही मिलने लगते हैं अतएव इसे 1930 रखना अधिक उचित होगा। द्विवेदी युग तथा छायावाद रूपरचना तथा अतर्वस्तु में अलग लगते हुए भी मूलत. सुधारवाद तथा आदर्शवाद से ही अभि-प्रेरित है।1930 तक के प्रेमचन्द को भी द्विवेदी युग तथा छायावाद युग के रचना-कारो के साथ इस कालखण्ड मे विवेचित किया जा सकता है। राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष का तीसरा चरण 1930 या 36 से 1960 तक का माना जाना चाहिए। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की अंतर्वस्तु मे बदलाव के साथ इस कालखण्ड के साहित्य मे भी वह बदलाव आता है। समाजवाद तथा यथार्थवाद के स्वर गहरे होते हैं, प्रधान बनते हैं तथा उनके विरोध मे उठने वाले प्रतिपक्षी स्वर भी सामने आते हैं। यह कालखण्ड यथार्थवाद तथा उसके प्रतिपक्ष का कालखण्ड है जब साहित्य मे साम-जिक तथा व्यक्तिवादी दृष्टियाँ यथार्थवादी और यथार्थ-विरोधी प्रवृत्तियाँ साथा-साथ सक्रिय होती हैं और एक दूसरे से टकराती हैं, प्रगतिशील धारा से लेकर नई कविता तक का समय इसके अतर्गत आ जाता है। गद्य मे भी यथार्थवादी और यथार्थ-विरोधी प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं। सन् 1960 ई० से वर्तमान समय तक राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का चौथा चरण है जो वस्तुतः दिग्भ्रम, मोहभंग तथा नई जन चेतना की अभिव्यक्ति का समय है राजनीतिक-सामाजिक जीवन मे अतिवादी अराजक प्रवृत्तियो के साथ साहित्य मे भी नए-नए फैशन कविता तथा कथा साहित्य से उभरते हैं, साथ ही जन-आन्दोलनो मे तेजी आती है और एक नई जन चेतना या वाम चेतना अपनी सक्रिय उपस्थिति सूचित करती है। डॉ० मैनेजर पाण्डेय द्वारा सुझाए गए व्यवस्थापन का यह मेरे अनुसार अधिक सुधरा हुआ, अधिक तर्कसंगत रूप है। इसप्रकार आधुनिक काल अर्थात राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष के काल को चार चरणों मे, जागरण का समय, आदर्शवाद-सुधारवाद का समय, यथार्थवाद वाम-चेतना तथा प्रतिपक्षी प्रवृत्तियों का समय, तथा मोहभग-दिग्भ्रम तथा नई जन चेतना का समय—मे बाटकर हम आधुनिक काल की रचनाशीलता का व्यवस्थापन तथा मूल्यांकन कर सकते हैं। हमारे जाने-पहचाने नाम इस विभाजन के भीतर आते रहें तो भी कोई हर्ज नही, कारण वे विभाजन के आधार नही हैं। अपने इस व्यवस्थापन तथा विभाजन की मैं विस्तार से व्याख्या कर सकता हूं, जो फिलहाल सम्भव नही है। अस्तु—

मुख्य समस्याएँ यही हैं। गौण समस्याएं यहाँ नही उठाई गई, मसलन सारे इतिहास मे या तो ईसवी सन देना या संवत देना, हिन्दी इतर प्रदेशो मे हिन्दी मे

लिखी जाने वाली रचनाशीलता को हिन्दी साहित्य के इतिहास मे स्थान देना, आधुनिक रचनाशीलता का विवेकपूर्ण मूल्यांकन करते हुए रचनाकारों को उनकी गुणवत्ता के आधार पर सही स्थान में रखना आदि-आदि। संप्रति आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य के इतिहास के बारे में समस्याओं के स्तर पर जो कुछ सोच-विचार सका हूं वह विचारार्थ प्रस्तुत है।

साहित्य के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता

राल्फ फाक्स ने परपरा की चर्चा करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि परपरा हमारे लिए महज सौन्दर्य-चिन्तन की वस्तु नही है, उसका इस्तेमाल हम अपने समय मे अच्छी तरह जीने के लिए करना चाहते हैं। जाहिर है कि राल्फ फाक्स का मूलवर्ती सरोकार यहाँ अपने समय से और अपने समय की मूलभूत जरूरतो से है और इस सरोकार के तहत ही वे अतीत या परपरा की ओर दृष्टि-पात करते हैं। साहित्य का इतिहास हो, या किसी जाति या राष्ट्र का इतिहास, हम इतिहास की ओर तभी जाते हैं जब अपने समय के दबाव और अपने समय की चुनौतियाँ हमे उस ओर जाने के लिए प्रेरित करती हैं। इस बात से एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि जिसे हम अतीत कहते हैं, न तो वह, और जिसे हम वर्तमान कहते हैं, ना ही वह, अपने से पूर्ण, स्वायत्त और स्वतंत्र है, कहीं न कही और किसी न किसी स्तर पर वे आपस मे सवाद की स्थिति मे हैं और इन दोनो से अलग दिखाई पडता हुआ जो भविष्य है, वह भी अलग न होकर वैसे ही इनसे जुडा हुआ है। यही काल की त्रिआयामिकता है जिसे मद्देनजर रखे बिना हम न तो अतीत को समझ सकते हैं, न वर्तमान को और न भविष्य को, कम से कम उनकी सपूर्णता मे। जहाँ तक मनुष्य का प्रश्न है उसकी सत्ता का विस्तार भी इन तीनों कालो तक है। मनुष्य का एक अतीत भी होता है, एक वर्तमान भी और एक भविष्य भी। मनुष्य सत्ता और मनुष्य के किसी भी प्रकार के कर्म को, वह साहित्यिक सास्कृतिक कर्म हो, या अन्य, हम काल के इस त्रिआयामी विस्तार मे ही समझ सकते हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य की यह त्रिआयामी कालबद्धता कोरे कार्य-करण सम्बन्धो पर आश्रित नही है, वरन् काल की इन तीनो इकाइयों का सम्बन्ध मूलत द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है और इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध मे संघर्ष तथा साहचर्य, दोनो की ही स्थिति है। अतएव, साहित्य के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता सबसे पहले हमारे लिए इस नाते है कि हम साहित्य को उसकी संपूर्णता मे पहचानना चाहते हैं, हम यह जानना चाहते हैं कि साहित्य के नाम पर

जो कुछ हम अपने युग मे रच रहे हैं अथवा पढ रहे हैं, वह एक अविच्छिन्न विकास परंपरा की देन है और उसे हम अच्छी तरह रच सकें, और पढ सकें तथा भविष्य की संभावनाओं से जोड सकें। इसके लिए जरूरी है कि हम उस विकास-परंपरा से परिचित हों, जो परिवर्तन तथा निरंतरता के क्रम में हमारे अपने समय तक अव्याहत रूप से चली आई है। साहित्य की निरंतरता तथा विकासशीलता में आस्था रखे बिना साहित्य के इतिहास पर बात नही की जा सकती।

जो लोग इतिहास, या साहित्य के इतिहास को, संस्कृति तथा साहित्य के अपने अतिवादी-आधुनिकतावादी सरोकारो के तहत अनावश्यक तथा अहेतुक मानते हैं उन्हे हम बता देना चाहते हैं कि हमारा अपना मूलवर्ती सरोकार भी हमारे अपने समय तथा आने वाले समय से है, किन्तु हम यह भी जानते हैं कि कोई भी समाज अपने सांस्कृतिक रिक्थ से जुडकर ही संस्कृति के नवीनीकरण का उद्देश्य प्राप्त कर सकता है। अतीत के इस रिक्थ मे क्या सार्थक और मूल्यवान है तथा क्या निरर्थक और अनुपयोगी है, इस बात का विवेक हमे इतिहास-विवेक से ही प्राप्त होना है। इतिहास हो या साहित्य का इतिहास, उसके अतर्गत हमारी बहुमूल्य सामाजिक स्मृति सुरक्षित रहती है और उसकी अवमानना इस संपूर्ण सामाजिक स्मृति की अवमानना है। अतीत को विस्मृत कर, उससे वंचित होकर हम अपने वतमान का न तो निर्माण कर सकते हैं और ना ही उसकी वास्तविकता को सही रूप से समझ सकते हैं और ना ही वर्तमान के अपने कर्म का भविष्य के हित में सार्थक विनियोग कर सकते हैं। साहित्य के इतिहास का अध्ययन हमें अपने वर्तमान की चुनौतियों को साहस के साथ झलने मे मदद करता है, हमे वर्तमान को संवारने मे सहायता करता है तथा हममे यह आस्था बनाए रहता है कि आज हम जो कुछ कर रहे हैं उसके पीछे वैसे ही जागृत कर्म की एक समृद्ध परंपरा विद्यमान रही है। सारतः साहित्य के इतिहास के अध्ययन की पहली आवश्यकता साहित्य की प्रगति, परंपरा, निरंतरता तथा विकास की पहचान के लिए और वर्तमान तथा आगत के लिए उसका सार्थक रूप से इस्तेमाल करने के लिए है।

साहित्य के इतिहास के अध्ययन की दूसरी *आवश्यकता*, जैसा कि हमने इंगित किया है, अतीत के रिक्थ के मूल्यांकन को लेकर है। साहित्य की निरंतरता, उसकी विकासशीलता का बोध मात्र हमे वर्तमान तथा आगत के साथ उसके सही विनियोग की दिशा नही दे सकता, उसकी सार्थकता हमारे लिए और आगत के लिए तभी हो सकेगी, जब हम सही इतिहास, विवेक से सज्जित होकर उनका मूल्याकन करते हुए उसके अनावश्यक अंश से उसके आवश्यक अंश को अलगाते हुए उसे ग्रहण करें। यह इतिहास-विवेक ही हमे विगत तथा वर्तमान के बीच विद्यमान सम्बन्धों को उनके सही परिप्रेक्ष्य मे समझने मे मदद देगा। क्या कारण है कि अतीत का बहुत कुछ युगबद्ध होकर ही रह जाता है, अनेक रचनाकार मात्र संख्या बनकर

रह जाते हैं जबकि अतीत का ही एक अश या कि कोई रचनाकार अपने काल और अपने समय से जुडा होकर भी आगामी कालो और समयो के लिए भी महत्वपूर्ण हो जाता है । ऐसे रचनाकारो की विगत महत्ता तथा वर्तमान अर्थवत्ता को उनके द्वन्द्वात्मक साहचर्य मे इस इतिहास विवेक के माध्यम से ही हम समझ सकते हैं, जो अनिवार्यतः आधुनिक जीवन के हमारे सरोकारो के तहत विकसित होने वाला इतिहास विवेक है । *कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य के इतिहास के अध्ययन की दूसरी आवश्यकता का सम्बन्ध अतीत को उसके मूल्यवान अश के साथ* पहचानते हुए अपने समय का सहभागी बनाने से, विकास या कि प्रगति को, विगत की महत्ता को वर्तमान की अर्थवत्ता से जोड़ने से और अतीत के अनुभवो को अपने समय के संदर्भ मे नए अनुभवों के रूप मे महसूस करने से है ।

साहित्य के इतिहास का अध्ययन, जाहिर है कि हम महज यह जानने के लिए ही नही करते कि गत युगों मे क्या-क्या लिखा गया और उसे लिखने वाले कौन थे और *उनका क्रम क्या था आदि। उसका अध्ययन हम इसलिए भी नहीं करते कि गत युगो के इस लेखक को या उसे रचने वालो को हम अपने युग के लेखक* तथा रचनाकारो के लिए कोई ऐसा आदर्श मानते हो कि उसके अनुरूप ढलने मे ही अपनी तथा अपने युग के लेखक की सार्थकता देखते हो । साहित्य के इतिहास को पढने के क्रम मे अतीत को पुनरुज्जीवित करने या उसके प्रति मोहाविष्ट होने को हम इतिहास-विवेक की कमी के रूप मे देखते हैं और प्रतिगामी मानते हैं । सच पूछें *तो साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते हुए हम निरंतर आलोचनात्मक* बने रहना चाहते हैं ताकि अपने समय और उसकी रचनाशीलता के साथ अपने लगाव को अपनी मूलवर्ती ऊर्जा के रूप में बनाए रहकर हम अतीत के केवल उसी अश के साथ उसकी सगति बिठा सकें जो हमारी इस आलोचनात्मक दृष्टि से छनकर अपने समय का अतिक्रमण करते हुए हमारे साथ आ सका है और जिसे भी अतीत के अश के रूप मे नही, उसकी वर्तमान अर्थवत्ता के साथ वर्तमान की एक *पूँजी मानते हुए हम ग्रहण कर सकें । तुलसी या सूर या कबीर यदि कालबद्धता के* साथ अपने कालजयी होने का भी अहसास हमे कराते हैं तो उनकी कालबद्धता तथा कालजयीपन के बीच के द्वन्द्वात्मक साहचर्य को अपनी रचनाशीलता के हित में विश्लेषित करते हुए उन्हें आलोक का एक स्तभ मानते हुए भी हम उनकी तरह, उनका अनुकरण करते हुए नहीं लिखना चाहते और ना ही उन्हे इस प्रकार का आदर्श मानते हुए अपने समय की रचनाशीलता की परीक्षा करना चाहते हैं । *वस्तुतः हम अतीत के प्रेरणास्रोतों को अपने वर्तमान अनुभवो तथा जरूरतो मे* ढालकर ही अपने साथ ले चलना चाहते हैं । यदि साहित्य का इतिहास हममें यह आलोचनात्मक बुद्धि, त्याग और ग्रहण का सही विवेक, तथा क्लासिको की पहचान तथा संरक्षण की यह दृष्टि नहीं दे पाता तो उसका अध्ययन हमारे लिए

बहुत कारगर नहीं होगा। स्मरण रहे कि परंपरा का संवर्द्धन परंपरा का अनुकरण नहीं होता और अतीत के बड़े से बड़े रचनाकार भी महज अतीत तथा वर्तमान के बीच के सेतु ही होते हैं, कोई देवमूर्ति नहीं। उनके प्रति हमारा सही सुलूक यही हो सकता है या होना चाहिए कि उनकी सीमाओं से हम निरंतर सबक लें, उनको पहचानें और पहचनवाएँ तथा उनकी शक्ति से हम ताकत लें, उसे विश्लेषित करें तथा अपने समय की रचनाशीलता के लिए उसे रेखांकित करें।

हम साहित्य का इतिहास पढते या पढाते हुए उसमें होने वाले परिवर्तनों का जिक्र करते हैं। इन परिवर्तनों का सम्बन्ध युगों से भी होता है और रचनागत प्रवृत्तियों से भी। प्रायः हम इन परिवर्तनों का उल्लेख करके रह जाते हैं या उनके प्रेरक कारणों की फेहरिस्त गिना कर चुप हो जाते हैं। हम कदाचित यह जानने का प्रयास नहीं करते कि इन युग-परिवर्तनों या इन रचनागत-परिवर्तनों के ये प्रेरक कारण इतिहास तथा समाज विकास के अपने नियमों की देन हैं और इन नियमों को जाने बिना इन प्रेरक कारणों तथा उनके फलस्वरूप हुए परिवर्तनों को भी नहीं जाना जा सकता। एक खास समय में सामाजिक जीवन के विकास के एक खास दौर में भक्ति आन्दोलन सामने आया, निर्गुण तथा सगुण भक्ति की धाराएँ सामने आईं, कविता का युग परिवर्तन ही नहीं हुआ, रचनाशीलता भी बदली। लगा कि एक नवजागरण हुआ, शूद्र और अंत्यज कहे जाने वाले वर्ग से, कामगरों तथा शिल्पियों के वर्ग से, संतों की एक पूरी जमात सामने आई, शास्त्र और वेद विहित आचरण को पीछे छोड़ते हुए, जिसे आचार्य द्विवेदी ने लोक धर्म कहा है, वह ऊपर आ गया। किन्तु कालांतर में भक्ति के इस आन्दोलन पर पुनः शास्त्र तथा वेद विहित व्यवस्थाओं का कब्जा हो गया और एक समय इसे भी पीछे छोड़ते हुए रीतिकाल का एकदम नया साहित्य सामने आ गया। तब से लेकर आज तक फिर वैसा माहौल नहीं बन सका, शूद्र और अंत्यज, संत कवि प्रथम श्रेणी के शूद्र रचनाकार भी किसी भाषा ने नहीं दिए। ये सारे परिवर्तन सामान्य परिवर्तन नहीं हैं और हम इन्हें तब तक नहीं समझ और समझा सकते जब तक कि हम समाज विकास तथा इतिहास की गति के मूल में विद्यमान नियमों को, सही समझ से लैस होकर इन परिवर्तनों को नहीं देखते। इन नियमों की जानकारी के साथ-साथ हमें कोरे साहित्य से हटकर सामाजिक आर्थिक जीवन की तह में भी जाना पड़ेगा और आर्थिक, सामाजिक विकास की गति को भी परखना होगा, जो भी नियमों से परे नहीं है वरन् उन्हीं से चालित है। अतएव साहित्य के इतिहास का अध्ययन हमें समाज तथा साहित्य में हुए परिवर्तनों, उनके कारणों तथा प्रेरणाओं के पीछे निहित और उनका नियमन और उनका संचालन करने वाली शक्तियों को पहचानने में मदद करता है, उनके प्रति हमें जिज्ञासु बनाता है, हमें समाज तथा इतिहास के नियमों को समझाने की ओर प्रेरित करता है। बहुधा साहित्य के

इतिहास मे होने वाले परिवर्तनो को लक्ष्य करके हमारे मन मे इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ये परिवर्तन इसी रूप में घटित क्यो हुए, किसी दूसरे रूप मे सामने क्यों नहीं आए और ये क्यो तथा कैसे घटित हुए। आदि आदि।

साहित्य के इतिहास का अध्ययन हमे इस इतिहास का निर्माण करने वाले व्यक्तियो तथा जिसे हम जन समाज कहते हैं, उसकी अपनी भूमिकाओ से परिचित कराता है। इन महान कहे जाने वाले व्यक्तियों की महानता का स्रोत क्या है, क्यो यही व्यक्ति तत्कालीन संदर्भों मे उभर कर अलग से रेखांकित हुए और इन्हें इस प्रकार उभारने मे इनके समय की कौन सी शक्तियों का योग रहा, ये बातें भी हमें साहित्य के इतिहास के अध्ययन के क्रम मे पता चलती हैं। साथ ही, जिसे हम जन या जनता कहते हैं, इस इतिहास के निर्माण मे तथा इन महानो के निर्माण में उसकी गति तथा भूमिका क्या रही, इस बात का पता भी हमे साहित्य का इतिहास पढ़ने से होता है। इतिहास के निर्माण मे व्यक्ति तथा जन का यह रिश्ता बहुत महत्त्व का है। इनका सम्बन्ध भी सरल न रहकर द्वन्द्वात्मक होता है और उसे हम साहित्येतिहास के अध्ययन द्वारा ही जान पाते हैं। जो लोग इतिहास का निर्माण करते हैं वे इतिहास के भीतर रहकर ही उसका निर्माण करते हैं। वे इतिहास से बंधे भी होते हैं और उसे बनाते भी हैं। इस प्रक्रिया को भी हम इतिहास के सही अध्ययन-क्रम मे ही जान सकते हैं।

साहित्य का इतिहास वस्तुत समाज के इतिहास का ही एक अग होता है। रचना व्यक्तिगत कर्म होने के साथ-साथ एक सामाजिक कर्म भी है। समाज तथा सस्कृति की गतिविधियाँ ही साहित्य में भी प्रतिबिम्बित होती हैं। समाज का समूचा कर्म उस समाज के साहित्य मे रचनाकार की सवेदना का अंग बनकर आता है। कहते हैं कि साहित्य मे किसी समाज का श्रेष्ठतम कर्म अभिव्यक्त होता है और किसी साहित्य को पढ़कर हम उसके समाज के समूचे कर्म के बारे मे अपनी धारणा बना सकते हैं। यदि वस्तुतः साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है या कि वह उसका दर्पण है या उसकी आलोचना है, वह कुछ भी हो, परन्तु इतना निश्चित है कि साहित्य के इतिहास का अध्ययन हमे समाज की जीवन तथा उसकी सक्रियता से भी परिचित कराता है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य को जनता की सचित चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब कहा है। उनका कहना ठीक है और इस नाते साहित्य के इतिहास के माध्यम से हम अपने समाज के, अपनी जनता के क्रियमाण जीवन से भी परिचित होते हैं।

विचारधारा बनाम अनुभव के सवाल पर

हिन्दी की प्रगतिशील-जनवादी रचना शीलता के संदर्भ में प्रगतिशील-जनवादी रचनाकारों और विचारकों के बीच एक सवाल काफी लम्बे अर्से से चर्चा का विषय बना हुआ है जिसने अब बाकायदा एक विवाद का रूप अख्तियार कर लिया है। सवाल है कि साहित्य या कला में विचार या विचारधारा की अहमियत क्या है और जिन्दगी के यथार्थ तथा प्रामाणिक अनुभवों के बरक्स उसका क्या और कितना महत्व होना चाहिए। यदि बात महज विचारधारा और यथार्थ अनुभवों की होती तब परेशानी न थी, कारण कलाकृति में उनका पारस्परिक तालमेल बिठाया जाय, हमारी चिन्ता यहीं तक सीमित होती, परन्तु बात इस बिन्दु पर न टिककर इससे आगे इस बिन्दु पर पहुँच गई है कि साहित्य या कला में विचारधारा की अपनी कोई अहमियत है भी या नहीं, और कुछेक रचनाकार-विचारक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि विचारधारा को एक ओर रखकर साहित्य या कला में महज जीवन के यथार्थ अनुभवों का, यथार्थ जीवन का ही स्पन्दन होना चाहिए, विचारधारा की मौजूदगी कला कृति की रचना को मात्र प्रचार बनाकर छोड़ देती है, उनके प्रभाव को नष्ट कर उसे कला की या कला रचना की सही जमीन से काट देती है, सवाल इस बिन्दु पर विचारधारा और कलात्मक परिष्कृति में [ही स्वाभाविक विरोध का हो जाता है और जितना ही उसे या ऊपर के सवाल को हल करने की कोशिश होती है बात बनने की बजाय बिगड़ती और उलझती ही चली जाती है। ऐसी स्थिति में जरूरी है कि प्रगतिशील जनवादी रचनाशीलता के लिए अहम इस सवाल पर कुछ विचार किया जाय, कदाचित बात कुछ साफ ही हो सके।

इस विवाद का सबसे दिलचस्प पहलू यह है कि दोनों ही पक्ष अपनी समझ के अनुसार मार्क्स और एंगेल्स का संदर्भ लेकर अपने पक्ष को प्रमाणित करना चाहते हैं। विचारधारा के पक्ष में खड़े होने वाले जहाँ साहित्य और कला के बारे में मार्क्स और मार्क्सवाद मूलवर्ती 'सभी निष्पत्तियों को अपने हक में उद्धृत करते हैं और मार्क्सवाद के दार्शनिक तथा सौन्दर्यशास्त्रीय दोनों आयामों को एक

सार्थक सामाजिक बदलाव के उसके संकल्प के तहत व्याख्यायित करते हुए साहित्य और कला की चरितार्थता उसके इस बदलाव मे समझदारी निभाने मे मानते हैं वहां विचारधारा को साहित्य या कला निर्मिति मे अहेतुक मानने वाले कभी 'सिकिंगन' बहस को सामने लाकर, कभी मार्क्स-एंगेल्स के दीगर कुछ कथनो का हवाला देकर अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए उद्यत दिखाई पड़ते हैं। इस विवाद के इस या उस पक्ष मे से किसी भी की तरफ न बोलते हुए हम साहित्य और कला की उस समझ को सामने रखना चाहेंगे जो मार्क्स एंगेल्स तथा मार्क्सवादी दर्शन तथा साहित्य चिन्तन के प्रामाणिक तथा मान्य व्याख्याता हमे देते हैं और जो हमें इस विवाद को समझने तथा विचारधारा और अनुभव के संदर्भ मे साहित्य या कला की अपनी आकृति को पहचानने और तय करने मे मदद देगी।

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु 'ए कन्स्ट्रीब्यूशन टु द क्रिटिक ऑफ पोलिटिक्स इकानोमी' में मार्क्स का वह प्रसिद्ध कथन है जिसके अन्तर्गत उन्होंने साहित्य और कला को विचारधारात्मक बाह्य अधिरचना का अंग माना है, दर्शन, विधि, धर्म राजनीति जैसे उसके दूसरे रूपों के साथ। अपने इस कथन में मार्क्स ने समाज के आर्थिक भौतिक आधार को निर्णायक माना है और उसमे परिवर्तन के साथ ही विचारधारा के सभी रूपो मे समूची अधिरचना के कमोबेश समान तेजी के साथ रूपान्तरित होने की बात कही है। इसी सिलसिले मे उन्होंने इस पहलू के प्रति हमे सावधान भी किया है कि इस प्रकार के रूपान्तरों पर विचार करते हुए उत्पादन की आर्थिक स्थितियों जिन्हें प्राकृतिक विज्ञान की सूक्ष्मता के साथ निर्धारित किया जा सकता है और विधिसम्बन्धी, धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक रूपो के बीच, जिनमे मनुष्य इस संघर्ष के प्रति सचेत रहता है और उसमे विजय प्राप्त करना चाहता है, फर्क करना आवश्यक है।

मार्क्स की यह स्थापना एक ओर जहाँ मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्रीय चिन्तन की बुनियाद मानी जा सकती है और परवर्ती विचारको ने इस बुनियाद पर ही मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्रीय चिन्तन की सुदृढ़ इमारत खड़ी की है, वहाँ इसे लेकर सवाल भी उठाए गए हैं और आधार और अधिरचना की बात को एक रूपक मानते हुए उसे या तो बहुत अधिक अहमियत न देने की बात कही गई है या नई स्थापना सामने लाई गई है। जो सवाल इस संदर्भ मे विशेष रूप से उभरा है वह यह है कि क्या साहित्य या कला को विचारधारा का रूप माना जा सकता है खासतौर से जबकि साहित्य या कला निर्मिति मे विचार या विचारधारा की अल्प भूमिका ही होती है, इंद्रिय बोध तथा भाव उसकी निर्मिति मे मुख्य होते हैं। दूसरी बात यह कि साहित्य या कला आर्थिक भौतिक जीवन से किस सीमा तक

अनुकूलित होती है, इस स्थापना को प्रश्न चिह्नों के साथ देखनेवालों के अनुसार वे 'अशतः' ही आर्थिक भौतिक आधार से अनुकूलित होती है। इन लोगों में से कुछ मार्क्स की इस स्थापना को एक प्रकार का आर्थिक नियतिवाद कहते हुए उसे साहित्य या कला की अपनी स्वायत्तता उसकी अपनी बुनियादी प्रकृति की उपेक्षा करने का दोषी भी ठहराते हैं। फिलहाल इन तमाम सवालों की तफसील में न जाकर हम अपने को साहित्य और कला के बारे में मार्क्सवादी समझ तक ही सीमित रखना चाहेंगे।

मार्क्स की उक्त स्थापना को लेकर गलत बयानी या गलत समझ का दौर वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स के जीवनकाल में ही शुरू हो गया था। मार्क्स ने और विशेष तौर पर एंगेल्स ने इस बारे में लिखा भी है और चाहा है कि उनकी बात को यांत्रिक रूप में सीधे कार्य कारण सम्बन्ध के रूप में न देख कर सही जमीन से देखा जाय। इस संदर्भ में एंगेल्स का यह कथन विशेष द्रष्टव्य है—

"इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार इतिहास का चरम निर्णायक तत्व वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। इससे अधिक न मार्क्स ने और न मैंने ही कभी कहा है। अतः यदि कोई इसे तोड़-मरोड़ कर यों कहे कि आर्थिक तत्व ही एक मात्र निर्णायक तत्त्व है, तो वह हमारी प्रस्थापना को निरर्थक अमूर्त्त और छूछी शब्दावली मात्र बना देता है। एंगेल्स ने आधार और अधिरचना की अन्योन्य सक्रियता की बात बराबर की है जिसमें आर्थिक गति अततोगत्वा ही अनिवार्य गति के रूप में प्रकट होती है, ऐसा न हो तो इच्छानुसार इतिहास के किसी युग में इस सिद्धान्त को घटित करना गणित के सरलतम समीकरण को हल करने से भी अधिक आसान होगा।"

विडंबना यही है कि जिन्होंने मार्क्स की इस प्रस्थापना पर आर्थिक नियतिवाद का आरोप लगाया है उन्होंने इसे गणित के सरल समीकरण की ही भाँति समझा और इतिहास पर लागू किया है। मार्क्स की इस प्रस्थापना में अधिरचना के रूपों की अपनी सक्रियता का भी पूरा उल्लेख है और साहित्य कला के बारे में उसके अपने स्वायत्त नियमों के बारे में तो वे हर जगह सजग रहे हैं, यह जरूर है कि उन्होंने इस स्वायत्तता को सर्व तंत्र स्वतंत्र न मानकर सापेक्ष माना है, निर्णायक आर्थिक भौतिक जीवन के क्रियाकलापों को ही माना है।

दूसरी और बहुत जरूरी बात विचारधारा शब्द से मार्क्स के सही आशय को समझने की है। विचारधारा को बौद्धिक विचार का पर्याय मानना मार्क्स के सही आशय को न समझना है। मार्क्स ने विचारधारा शब्द को बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त किया है जिसके अन्तर्गत मनुष्य के भाव जगत की भी पूर्ण स्वीकृति है। भाव जगत ही नहीं, मनुष्य के सम्पूर्ण अनुभव जगत की समष्टि यह विचारधारा होती है और इसके अन्तर्गत व्यक्ति की समूची चेतना का वर्गगत रूप प्रतिबिम्बित

होता है। मार्क्स ने ही कहा है कि विचारधारा का अपना कोई स्वतंत्र इतिहास नहीं होता, जो कुछ होता है वह सामाजिक जीवन का इतिहास है। इस सामाजिक जीवन में मनुष्य के सारे क्रियाकलाप आ जाते हैं। साहित्य या कला विचारधारा का रूप इसी वृहत्तर अर्थ में है। ऐसा नहीं है कि उन्हें विचारधारा का रूप मान लेने के अर्थ उनकी परिधि से मनुष्य के भाव जगत, उसके निरन्तर मानवीय हो रहे इन्द्रिय बोध एवं उसकी सौन्दर्य चेतना आदि की बहिष्कृति है। साहित्य या कला को विचारधारा का रूप मानने के अर्थ यह भी नहीं हैं कि उनसे यथार्थ जीवन संदर्भों का, यथार्थ जीवन के बिम्बों का, यथार्थ जीवन के खरे अनुभवों का कोई सम्बन्ध नहीं है। साहित्य और कलाएँ यथार्थ जीवन के बीच ही रूप पाती हैं, उसी के रगरेशे से निर्मित होती है, मनुष्य के सर्जनात्मक श्रम का वे प्रतिफल होती हैं, जिनमें मनुष्य अपने को सम्पूर्णतः बिना किसी भी पक्ष की क्षति के पाना चाहता है, वे उसके आत्म का प्रतिबिम्ब होती हैं, उसकी पूर्णता को मूर्त करती है, मनुष्य अपने को उन्ही के अन्तर्गत अपने समूचेपन में पाता है। ऐसी स्थिति में विचारधारा को सीमित अर्थ में लेने का कोई सवाल ही नहीं उठता और कम से कम मार्क्स की प्रस्थापना को विरूप करने की छूट तो किसी को भी नहीं मिलती।

मार्क्स और एंगेल्स साहित्य और कला के बारे में, साहित्य के सौन्दर्यात्मक प्रभाव के बारे में क्या धारणा रखते हैं, यह हमें उनकी सैद्धान्तिक निष्पत्तियों के अलावा विशिष्ट कला कृतियों पर की गयी उनकी तमाम टिप्पणियों से सहज ही ज्ञात हो जाता है। ग्रीक क्लासिकों के सौन्दर्यात्मक प्रभाव पर की गई उनकी टिप्पणी का हवाला प्रायः दिया जाता है कि क्यों अपनी रचना के इतने लम्बे अर्से के बाद आज भी वे हमें प्रभावित करते हैं जबकि जिस समाज से उनकी रचना का सम्बन्ध है वह अत्यन्त प्रारंभिक समाज था। सीधा निष्कर्ष यह है कि सामाजिक जीवन और कला का विकास सदैव समान उत्कर्ष का नहीं होता। मार्क्स पशु-पक्षियों के सृजन से मनुष्य के सृजन का वैशिष्ट्य बतलाते हुए मनुष्य के सृजन को सौन्दर्य नियमों के तहत होने वाला मानते हैं, भौतिक आवश्यकता से मुक्त स्थिति में ही उसके उत्कर्ष की बात करते हैं। वे मनुष्य के सौन्दर्य बोध को, उसके इंद्रियबोध को अब तक के सामाजिक विकास की देन कहते हैं, उसे निरन्तर मानवीय बनाए जाने पर जोर देते हैं, सुन्दर संगीत की समझ तथा आस्वाद के लिए संगीतमय श्रवणेन्द्रिय की जरूरत को ज्ञापित करते हैं मानवमन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों के उद्घाटन में, शेक्सपियर की कला की श्रेष्ठता देखते हैं। कहने का मतलब यह कि मार्क्स और एंगेल्स की साहित्य और कला विषयक टिप्पणियाँ हमें इस बात का भरपूर अहसास कराती हैं कि साहित्य और कला की अपनी विशिष्ट प्रकृति, उनके सौन्दर्यात्मक प्रभाव तथा उनकी अपनी निर्मिति के बारे में वे कितने सजग थे तथा कितनी गहराई में जाकर उन्होंने साहित्य और कला की

अपनी विशिष्ट प्रभाव क्षमता का उल्लेख किया। ऐसी स्थिति में जब वे साहित्य और कला को विचारधारा का ही रूप मानते हैं तब हमें ज्ञात हो जाना चाहिए कि विचारधारा से उनका आशय मनुष्य की समूची चेतना से है, उसके किसी एक अंश से ही नहीं। परन्तु इसके साथ-साथ साहित्य और कला के बारे में मार्क्स और एंगेल्स की सोच का एक अन्य पहलू भी है जो उनके द्वारा ऊपर कही गई बातों को किसी भी स्तर पर नहीं काटता वरन जो उनके साथ ही साहित्य और कला की सम्पूर्ण समझ हमें देता है।

हम कह चुके हैं कि मार्क्स और एंगेल्स मूलतः साहित्य और कला चिन्तक नहीं थे। साहित्य और कला की ओर वे मनुष्य जीवन की दूसरी अहम चिन्ताओं पर विचार करते हुए ही उन्मुख हुए थे। मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य की अपनी अस्मिता की जो क्षति देखी थी उनकी चिन्ता का मूल विषय यह था कि इस आद्यान्तकारी व्यवस्था में क्रमशः अपनी सम्पूर्ण पहचान खोते हुए मनुष्य की अस्मिता को बरकरार कैसे रखा जाय। अपने को खोता हुआ मनुष्य किस प्रकार अपने को सम्पूर्णतः पा सकता है, इस चिन्ता के तहत वे साहित्य और कलाओं की ओर आए और उन्होंने साहित्य और कला के अन्तर्गत मनुष्य को अपने को सपूर्णतः पाते हुए देखा और इसी के तहत उन्होंने साहित्य और कला को *परिभाषित किया, एक ऐसी इयत्ता के रूप में जहाँ मनुष्य अपने को सम्पूर्णतः* पा सकता है। जिन मनीषियों के लिए साहित्य और कला मनुष्यत्व को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करनेवाली इयत्ताएँ हों, जिनके लिए मनुष्य को उसका संपूर्ण आत्म देने वाली हों, जो उसकी अपनी अस्मिता की संरक्षक हों उनके बारे में यह सोचना कि वे साहित्य और कलाओं की बुनियादी आकृति के प्रति उदासीन, उनकी स्वायत्तता के हामी न होंगे, उन्हें या तो गलत रूप में जानना है या कतई न जानना है या फिर जानबूझकर उन्हें गलत रूप में पेश करना है।

हमने ऊपर कहा है मार्क्स और एंगेल्स की साहित्य और कला सम्बन्धी अवधारणा का एक और पहलू भी है जो उनकी उपर्युक्त सोच के साथ ही विचारणीय है। अपने दर्शन को संसार के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मार्क्स ने कहा था कि अब तक दार्शनिकों ने केवल संसार की व्याख्या ही की है जबकि जरूरत उसे बदलने की है। मार्क्सवाद उनकी इस विचारणा के तहत एक ऐसे दर्शन के रूप में अपनी पहचान कराता है जिसका लक्ष्य एक सार्थक सामाजिक बदलाव है। उसकी अपनी इस विशिष्ट प्रकृति को नजरंदाज करना उसके मूलवर्ती संकल्प को ही नजरंदाज करना होगा। जाहिर है कि जब मार्क्सवाद का लक्ष्य सार्थक सामाजिक बदलाव है तब उससे जुड़ी प्रत्येक विचारणा का लक्ष्य इस बदलाव में सक्रिय भागीदारी ही होगी। मार्क्सवाद के अन्तर्गत साहित्य और कलाएँ किसी अनिर्वचनीय आस्वाद की वस्तुएँ न होकर, महज आनन्द की और उपभोग की वस्तुएँ न होकर, उक्त

सामाजिक बदलाव मे साझीदारी निभानेवाली शक्तियों के रूप मे हमारे सामने आती है। दूसरी और अहम बात यह भी है कि मार्क्स अब तक के सामाजिक विकास के इतिहास की चर्चा करते हुए उसे प्रारभिक अवस्था को छोड़ कर वर्गों मे बटे हुए समाज के रूप मे ही देखते और व्याख्यायित करते हैं। इसी क्रम मे उनकी यह निष्पत्ति भी सामने आती है कि वर्ग समाजो मे विविध वर्गों की अपनी अभिरुचियो मे, विभिन्न वर्गों के अपने वर्ग हितो मे टकराव होता है और यह कि किसी समाज मे शासक वर्ग की अभिरुचियाँ ही प्रधान हुआ करती हैं। शासक वर्ग जबकि यथास्थितिवादी होता है शोषित और मेहनतकश वर्ग परिवर्तनकामी होता है और इस बिन्दु पर वह शासक वर्ग से सीधा टकराता है। विभिन्न युगो के साहित्य और कला मे भी हमे न केवल विभिन्न वर्गों की इन अभिरुचियो मे यह टकराव दिखाई पड़ता है, शासकवर्ग की अभिरुचियो का प्राधान्य भी दिखाई देता है। यह सही है कि साहित्य और कला मे वर्ग-संघर्ष की स्थितिया सीधे ही प्रतिबिम्बित नहीं होतीं किन्तु साहित्य और कलाओ मे वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति होती ही नही ऐसा सोचना भी गलत है। वर्ग संघर्ष की निरंतरता मे अपने बेहतर जीवन के लिए संघर्षरत साधारण जनता के हित मे साहित्य और कलाएँ अपनी प्रगतिशील तथा क्रांतिकारी भूमिका अदा करती हैं। साहित्य और कलाएँ सामाजिक जीवन मे परिवर्तन नहीं लाती, परिवर्तन लाने वाली जनता होती है, साहित्य और कलाएँ जिसके संघर्ष को बल देती हैं, जिसे तीखा बनाती है। वर्ग समाज मे किसी साहित्यकार या कलाकार की प्रगतिशीलता इस बात मे होती है कि वह सार्थक परिवर्तन की दिशा मे संघर्षरत साधारण जनता के कितना साथ है, उसका साहित्य और उसकी कला किस सीमा तक जन की आशा-आकाक्षाओं और संघर्षों को मूर्त्त करती है। मार्क्सवाद इसी बिन्दु पर साहित्यकारो तथा कलाकारों से साधारण जनता के जीवन को देखने तथा चित्रित करने पर बल देता है, तथा साहित्य और कला को जनता के जीवन से ही प्रेरणा लेने का आग्रह करता है मार्क्स की ये मान्यताएँ, जिन्हें परवर्ती विचारकों ने और भी स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत किया है, उनकी पूर्ववर्ती मान्यताओ के विरोध मे नही है। कारण, मार्क्स और एंगेल्स ने सामाजिक परिवर्तन मे साहित्य और कला की बुनियादी जरूरतो को ध्यान मे रखते हुए ही यह काम किया। इस बिन्दु पर उन्होंने ऐसी कृतियों की आलोचना की है जो साहित्य को राजनीति की तरह इस्तेमाल करने के नाते कलाकृति नहीं बन सकी है।

साहित्य और कला मे विचारधारा का निषेध करने की बात करने वाले मार्क्स और एंगेल्स के इन्हीं कथनों का आधार लेकर अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं जबकि सच्चाई यह है कि मार्क्स और एंगेल्स ने विचारधारा के निषेध की बात कहीं नही कही है। उनका एकमात्र कथन यह रहा है कि साहित्य और कला मे

विचारधारा को सलीके के साथ, साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य की संगति में ही रखा जाए। इसी क्रम में हम मार्क्स और एंगेल्स के उन कथनों का हवाला देना चाहेंगे जो पर्याप्त प्रसिद्ध हैं तथा विचारधारा का निषेध करनेवालों के द्वारा जिनका प्रायः उल्लेख किया जाता है।

मीना काउत्स्की, मार्गरेट हार्कनेस को लिखे गए एंगेल्स के पत्रों में एंगेल्स की यह विचारणा स्पष्ट हुई है कि प्रयोजन या उद्देश्यमूलकता को आरोपित नहीं होना चाहिए। विचार भी कृति में कला को क्षति पहुँचा कर न आने चाहिए, वे जितने ही परोक्ष रूप से आएँ उतना ही कलाकृति के लिए शुभ होगा। एंगेल्स ने विचार के बावजूद भी यथार्थवाद के उभरने की बात की है। लसाल के नाटक पर मार्क्स का अभिमत है कि उसने अपने पात्रों को मात्र समय का प्रवक्ता बना दिया है जो उसकी कमी है। मार्क्स और एंगेल्स का सारा जोर यहाँ कलाकृति की कलात्मकता, उसके कलात्मक प्रभाव की ओर है। शेक्सपियर को आदर्श मानने की सलाह वे लसाल को देते हैं, शिलर को इस रूप में वे आदर्श नहीं मानते।

परन्तु मार्क्स और एंगेल्स के इन्हीं वक्तव्यों को हम ध्यान से देखें तो जैसा कि हमने कहा वे विचारधारा का या प्रयोजनमूलक विरोध नहीं करते, उलटे वे महान लेखकों का नाम लेते हुए उनकी प्रयोजनमूलक कला के प्रति अपनी सहमति सूचित करते हैं। वस्तुतः उनका सारा जोर इस बात पर है कि विचारधारा या प्रयोजन-मूलकता की बात कलात्मकता को क्षति पहुँचाकर न हो। उनके लिए विचारणीय मुद्दा विचारधारा का कलात्मक रूपान्तरण है न कि विचारधारा का विरोध या निषेध। बहस के इसमुद्दे को हम भी स्वीकार,करते हैं और हम भी चाहते हैं कि विचारधारा के कलात्मक नियोजन की समस्या ही मूलवर्ती समस्या है, विचार-धारा के बरबस अनुभव को रखना सही नहीं है। विचारधारा से रहित होकर हम मार्क्सवादी कला संकल्पों से भी रहित हो जाएंगे। यथार्थ अनुभव अथवा यथार्थ के चित्रण से किसे परहेज हो सकता है। अनुभवों की, यथार्थ अनुभवों की पूँजी ही किसी प्रगतिशील रचनाकार का सबसे बड़ा सम्बल होती है। यदि हमारे पास वही नहीं है तो मात्र विचारधारा, वह कितनी ही क्रांतिकारी क्यों न हो, महान कला तो क्या माध्यम दर्जे की कला भी सृजन नहीं कर सकती। विचारधारा कला की ताकत तभी बनती है जब वह यथार्थ और जीवंत अनुभवों के साहचर्य में कृति की कलात्मक योजना का अंग बनकर सामने आवे। अकेला मार्क्सवाद किसी को बड़ा लेखक नहीं बना सकता। मार्क्सवाद एक अनुभव सम्पन्न तथा कला की समझदारी रखने वाले लेखक को जरूर महान रचनाकार बना सकता है और उसके अभाव में प्रतिभा सम्पन्न लेखक भी अन्ततः कहीं न कहीं रिक्त हो जाता है, समय से पिछड़ जाता है। अतएव जरूरत विचारधारा को अनुभवों के साथ संजोने की है। विचारधारा से रहित अनुभव हमें कोरे अनुभववाद में गुमराह कर दे, और कुछ

नहीं कर सकता। फिर वर्ग समाज में विचारधारा से अलग रहा भी नहीं जा सकता। विचारधारा के साहित्य और कला में प्रवेश के खिलाफ आवाज उठाने वाले वस्तुतः वे हैं जो साहित्य और कला को उनकी सामाजिक बदलाव में भागीदारी से अलग करना चाहते हैं। उन्हें विचारधारा शब्द से ही उबकाई आती है महज इसलिए कि विचारधारा से शून्य साहित्य और कला से ही उनका और जिस वर्ग हित का प्रतिनिधित्व वे करते हैं, उसका काम सधता है। बुर्जुआ आलोचकों के दबाव वश, उनकी आलोचनाओं से आतंकित होकर महज उनके बीच मान्यता पाने के लिए, उन्हें अपनी कलात्मक समझदारी का परिलक्ष्य देने के लिए, यदि हम उनकी तरह बातें करते हैं तो हमें अपने को जरूर टटोलना चाहिए। एक प्रगतिशील जनवादी रचनाशीलता के हामी होने के नाते हमारा मुख्य सरोकार यह होना चाहिए कि हम अपनी सर्जना को कला की बुनियादी शर्तों के साथ ग्रहण करें तथा विचारधारा के सहयोग से उसे उसकी सही परितार्थता दें। प्रखर विचारधारा और ऊंची कलात्मक उपलब्धि हमारे लक्ष्य का सरोकार इन बातों से ही होना चाहिए। विचारधारा को छोड़कर सम्भव है हम कुछ समय तक अच्छे कलाकार कहलाने का सुख पा जाएँ किन्तु तब हम अपने को उस जमीन से जुड़ा हुआ न कह सकेंगे जो मार्क्सवादी की जमीन है, और अच्छे कलाकार भी हम बने रह पाएंगे, हमें इसमें भी सन्देह ही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आलोचना की दूसरी परम्परा

हिन्दी में जब से आलोचना की 'दूसरी परम्परा' का सवाल उठा है, बातें व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर ज्यादा हुई हैं, बुनियादी मुद्दों पर कम। यह सही है कि जिन व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर आलोचना की 'दूसरी' या 'पहली' परम्परा को रेखांकित किया गया है उसका सम्बन्ध मान्यताओं, विचारों तथा धारणाओं से है, परन्तु यह भी सही है कि 'दूसरी' परम्परा की बात को या पहली परम्परा की बात को, और उन्हें एक दूसरे से कम या ज्यादा महत्त्वपूर्ण, प्रगतिशील या प्रतिगामी मानने जैसी बात को, जिन बुनियादी मुद्दों के आधार पर सामने रखना चाहिए था, वह नहीं हुआ। दूसरी परम्परा का सवाल, चूंकि एक महत्त्वपूर्ण सवाल है, चली आती हुई सोच से हटकर एक नयी सोच और उसके आधार पर संसार, समाज, मनुष्य, मानव-जीवन, साहित्य और कला को एक नये नजरिये से देखने, उन्हें एक नया अर्थ देने तथा उनमें एक नया अर्थ खोजने का सवाल है, अतएव जरूरी है कि उस पर बातों का सिलसिला जारी रहे ताकि दूसरी परम्परा की बुनियादी वास्तविकता निर्भ्रान्त रूप में स्पष्ट हो सके, वह व्यक्तियों से हटकर अपनी बुनियादी अहमियत के आधार पर जानी-पहचानी जा सके।

सबसे पहले हम 'परम्परा' शब्द पर ध्यान दें। शब्दकोशों में परम्परा का अर्थ है—एक के बाद दूसरा, अनुक्रम, पूर्वापर क्रम आदि। काव्य-रचना की परम्परा हो या काव्य-चिन्तन की परम्परा अथवा संसार-समाज, मनुष्य या मानव-जीवन से संबंधित विचारों की परम्परा, प्रायः परम्परा शब्द को उसके उपर्युक्त अर्थ में ही ग्रहण करते हुए अब तक की तमाम चर्चाएँ हुई हैं और हो रही हैं। किसी रचनाकार या विचारक को चली आती हुई रचना या विचार की परम्परा से जोड़ने या किसी नयी शुरुआत या नयी पहल के नाते उसे एक नयी परम्परा का प्रवर्त्तक मान लेने के पीछे परम्परा के उपर्युक्त अर्थ को ही वरीयता दी जाती रही है। हमारा अपना विचार परम्परा के इस अर्थ को न नकारते हुए

भी उसे अधिक तात्विक जमीन पर पहचानने और ग्रहण करने का है ताकि चलताऊ तरीके से उसे समझने या ग्रहण करने के नाते, (काव्य-रचना या काव्य-चिन्तन तक ही अपने को सीमित रखें तो) समान और भिन्न, पहली, दूसरी, तीसरी और न जाने कितनी और परम्पराओं की जो भीड़ हमारे सामने मौजूद हो गई है उससे हटकर हम किसी परम्परा को और किसी दूसरी परम्परा को उसकी सही बुनियाद पर जाकर पहचान सकें और उस तमाम सारे दिग्भ्रम से बच सकें, जो आज हमे घेरे हुए है और जिनके नाते हम किसी रचना, विचार और उससे जुड़े लोगो को उनकी बुनियादी हकीकत मे समझ पाने में कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं।

तब सवाल है कि किसी एक परम्परा से किसी दूसरी परम्परा को अलगाने, उसे वस्तुतः दूसरी परम्परा के रूप मे जानने-समझने और समझाने का आधार क्या हो सकता है ? हम अपनी बात मुख्यतः काव्यालोचन के दायरे मे रहकर ही करना चाहेंगे, ताकि वह स्पष्ट होकर सामने आ सके।

सच पूछा जाये तो कोई भी आलोचना हो, वह केवल दिखाने का काम ही नही करती, पहले देखती भी है। साहित्य की आलोचना के साथ बुनियादी तौर पर यह बात जुड़ी है कि जिस साहित्य को देखने-परखने और पहले देख-परखकर दूसरो को उसके गुण-दोष दिखाने कोई आलोचक चला है, साहित्य के बारे मे उसका अपना नजरिया, उसकी अपनी दृष्टि या दृष्टिकोण क्या है ? यही नही, यह भी कि साहित्य के गुण-दोष की पहचान के उसके अपने मानदण्ड क्या हैं, या जिन मानदण्डों को वह निर्णायक मानकर आलोचना मे अग्रसर हुआ है उन मानदण्डो के निर्माण के पीछे साहित्य की कौन-सी और कैसी समझ निहित है। उस विचार, विचारधारा या विचार-प्रणाली का स्वरूप क्या और कैसा है जिसके तहत वे मानदण्ड उसके द्वारा निर्मित या ग्रहण किये गये हैं। साहित्य के बारे मे किसी और साहित्य के गुण-दोषो को समझ के बारे मे निश्चित दृष्टि या दृष्टिकोण के अभाव मे साहित्यालोचन हो ही नही सकता, कम से कम ऐसा साहित्यालोचन, जिससे हमारा वास्ता है। बिना दृष्टि या दृष्टिकोण के देखने और दिखाने की बात का कोई मतलब ही नही है। यहाँ जब हम दृष्टि या दृष्टि-कोण की बात कर रहे हैं तो जाहिरा तौर पर हमारा आशय एक ऐसी दृष्टि या दृष्टिकोण से है जो महज साहित्य और कला के दायरों तक ही सीमित न होकर उसका अतिक्रमण करता है और संसार, समाज, मनुष्य तथा मानव-जीवन-संबंधी एक बुनियादी समाज का सूचक बनकर दृष्टि-जीवन या जीवन-संबंधी दृष्टिकोण का नाम पाता है तथा जो साहित्य और कला के बारे मे आलोचक या साहित्य के सिद्धान्तविद् की अपनी साहित्य और कला-संबंधी सोच का भी निर्धारण करता है, उसे अनुशासित करता है। साहित्य-रचना हो, या साहित्यालोचन हो या साहित्य

की रचना या आलोचना के मानदण्डों का निर्धारण, उनके पीछे रचनाकार-आलोचक तथा सिद्धान्तविद् की अपनी जीवन-दृष्टि, उसके दार्शनिक दृष्टिकोण अथवा जिन्दगी तथा उसे जीने वाले मनुष्य के बारे में उसकी बुनियादी समझ अपरिहार्य रूप से सक्रिय रहती है, यह बात और है कि वह उसकी रचना या आलोचना में इस प्रकार अंतर्निहित हो कि उसे तत्काल अलग से पहचाना न जा सके। साहित्य और कला की रचना हो या समीक्षा, यदि वह वास्तव में सार्थक रचना और आलोचना है तो उसकी इस सार्थकता, महत्त्व अथवा अहमियत का एक बड़ा अंश रचना तथा आलोचना की अपनी शर्तों को पूरा करने के बावजूद उनके रंग-रेशे से संपृक्त इस जीवन-दृष्टि या जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण का ही ऋणी होता है। गजानन माधव मुक्तिबोध जब कहते हैं कि "एक कला सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है", तब यह बात वे भले ही नयी कविता की कलावादी-व्यक्तिवादी धारा के संदर्भ में कह रहे हों, वस्तुतः वे उपर्युक्त मान्यता की ही पुष्ट करते हैं और मुक्तिबोध का यह कथन ही क्यों, समूची भारतीय काव्य-परम्परा और समूचे भारतीय काव्यालोचन हमारे इस कथन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

जरूरी है कि कुछ चर्चा अब हम जीवन-दृष्टि या जीवन-दर्शन की करें जो हमारे समस्त सांसारिक कर्मों और उनसे सम्बद्ध आचरण को नियमित, अनुकूलित और अनुशासित करता है, हमें उनकी ओर प्रेरित करता है। इन कर्मों में रचनाकार का रचना-कर्म तथा आलोचक का आलोचना-कर्म भी शामिल है। मुक्तिबोध की बात में इजाफा करते हुए हम कहना चाहेंगे कि किसी भी जीवन-दृष्टि या जीवन-दर्शन के पीछे कोई न कोई दर्शन या दार्शनिक-दृष्टि होती है और जैसा कि एंगेल्स ने कहा कि संसार भर के दर्शन और दार्शनिक दृष्टियों को मूलतः भाववादी या प्रत्ययवादी दर्शन तथा भौतिकवादी दर्शन, इन दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। आत्मा या चेतना को आद्य तथा संसार को ज्ञेय मानने वाले दार्शनिक भौतिकवादी हैं। भाववादी संसार के सृजन का श्रेय मनुष्य के अस्तित्व से बाहर, वस्तुजगत से भी बाहर की किसी परम-भावना, परमसत्ता अथवा विश्वेच्छा को देते हैं, जबकि भौतिकवादी पदार्थ को चिरन्तन मानते हैं और उसका सृजनकर्ता किसी को भी नहीं मानते। वे वस्तुजगत से बाहर किसी भी शक्ति का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। दर्शन की यह मोटी बात महज अपनी स्थापना को सुसंगत रूप से स्पष्ट करने के लिए ही यहाँ प्रस्तुत की गई है। जो बात यहाँ हम कहना चाहते हैं वह यह कि जिसे हमने जीवन-दृष्टि या जीवन-दर्शन कहा है, उसके पीछे संसार की समझ देने वाले इन्हीं दो मूलभूत दार्शनिक-दृष्टिकोणों में

स्थिति है। विशेषज्ञों से लेकर आम-आदमी तक का जीवन-दर्शन कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में इन्हीं दार्शनिक दृष्टिकोणों में पनाह पाता है।

जहाँ तक दर्शन की भारतीय परम्परा का सवाल है, वह मुख्यतः दर्शन की आत्मवादी-प्रत्ययवादी-भाववादी परम्परा ही है। जिसे दर्शन का भौतिकवादी दृष्टिकोण हमने कहा है, लोकायत दर्शन के रूप में वह हमारे यहाँ उभरा जरूर और एक विशेष दौर में लोकप्रिय भी हुआ परन्तु सत्ता तथा व्यवस्था की मिली-जुली साजिशों के तहत उसे पनपने नहीं दिया गया, विनष्ट कर दिया गया। चूंकि विचार को विनष्ट नहीं किया जा सकता, अतएव एक विचार के रूप में उसकी सत्ता बनी तो रही, वह उस रूप में एक जीवन्त परम्परा के स्तर पर हमारे सामने नहीं आ सका जैसाकि आत्मवादी या भाववादी दर्शन आया। भौतिकवादी दार्शनिक विचार आत्मवादी दार्शनिक विचारधारा में या तो संक्रमण करते रहे, उसमें अंतर्विरोध और असंगतियाँ लाते रहे आत्मवादी दार्शनिकों के समक्ष चुनौती बनते रहे, सामान्य जन-मानस को अपने तईं आन्दोलित करते रहे, परन्तु एक व्यवस्थित परम्परा के रूप में अपनी अहमियत नहीं जता सके। हम इस बात के विस्तार में नहीं जाना चाहते कि यह सब कैसे और क्योंकर हुआ परन्तु इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि भारतीय समाज तथा शासन के सत्ताधारी वर्ग ने लोकायत दर्शन को इसलिए पनपने नहीं दिया कि वह उनके वर्ग-हितों के विपरीत था और उस जमीन को पूरी तरह ध्वस्त करने वाला था जिस जमीन पर उनकी अपनी सत्ता कायम थी। इसे भारतीय मनीषा की एक ट्रेजडी ही कहा जाएगा और उसकी उदारता तथा स्वतंत्रता का दम भरने वालों के लिए एक कठोर व्यंग्य कि लोकायत दर्शन के स्वरूप की प्रामाणिक जानकारी देने वाले आधिकारिक ग्रंथों तक को इस प्रकार पूरी तरह विनष्ट किया गया कि आज उसके बारे में जो जानकारी हमें मिलती है वह उन ग्रंथों में दिए गए उसके उद्धरणों से मिलती है जो उसको विद्रूप करने के लिए, उसकी मखौल उड़ाने के लिए भाववादी दर्शन केप्रवक्ताओं ने तैयार किए हैं इस स्थिति पर पंडित जवाहरलाल नेहरू की टिप्पणी है—"नष्ट हुए ग्रंथों में वह समस्त भौतिकवादी साहित्य था जो प्रारंभिक उपनिषद के काल के बाद रचा गया था।'''ऐसी स्थिति में हमें इस दर्शन के आलोचकों और उन लोगों पर जो इसकी निन्दा करने पर तुले हैं, तथा उसकी मखौल उड़ाने और यह सिद्ध करने पर आमादा हैं कि यह कितना हास्यास्पद है, निर्भर रहना पड़ेगा। बेशक यह उस दर्शन का पता लगाने का बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण माध्यम है, किन्तु इस दर्शन को विकृत करने में उनके अत्यधिक उतावलेपन से ही यह जाहिर हो जाता है कि उनकी नजरों में यह कितना महत्वपूर्ण था। संभवतः भारत में, भौतिकवाद पर अधिकांश साहित्य को बाद के काल में पुरोहितों ने तथा रूढ़िवादी धर्म पर यकीन करने वाले दूसरे लोगों ने नष्ट कर दिया था।"

जो भी हो, दर्शन की जो समृद्ध परम्परा भारत मे पनपी, तथा आगे बढ़ी वह आत्मवादी-भाववादी-प्रत्ययवादी दर्शन की परम्परा ही है जिसे पुरोहित वर्गों के अलावा सत्ता तथा व्यवस्था के प्रमुखो द्वारा भी इस नाते प्रश्रय मिला कि वह उनके अपने वर्गहितो के अनुरूप, उनकी अपनी सत्ता को बहाल रखने मे उनकी सहयोगी थी। भाववादी दर्शन के पुरस्कर्ता सत्ता तथा व्यवस्था द्वारा इसीलिए सराहे गए कि उनके लिए उन्होंने वे तर्क मुहैया किए जो उसे टिकाए रखने का आधार थे। आत्मवादी दर्शन ने इस प्रकार भारतीय मनीषा पर अपना दखल करते हुए भारतीय जीवन के हर पहलू पर अपनी छाप छोड़ी, भारतीय चिन्तन के हर महत्त्वपूर्ण पक्ष को अनुकूलित किया, भारतीय साहित्य और कला की रचना तथा विचारणा के हर कदम को अपनी लीक पर आगे बढाया, यहाँ तक कि आम जनता की सोच पर भी अपने गहरे निशान डाले। यहाँ हमारा उद्देश्य भारतीय भाववादी दर्शन की निन्दा करना या उसे नकारना नही है, हम महज उसके वर्ग-चरित्र का ही खुलासा करना चाहते हैं जिसे पश्चिम के भाववादी दर्शन के सिलसिले में मारिस कार्नफोर्थ ने इन शब्दो मे स्पष्ट किया है—

"प्लेटो ने जो दासों के स्वामी अभिजात वर्गों के प्रतिनिधि थे, यह सिद्ध किया कि सिर्फ अभिजात वर्ग के व्यक्ति का मस्तिष्क ही जो ईश्वर के निकटतम होता है और निरी भौतिक चिन्ताओ से मुक्त रहता है, विश्व की अंततोगत्वा आदर्श-व्यवस्था को समझ सकता है और इसलिए दुनिया पर शासन करने का काम ऐसे लोगो को ही सौंपा जाना चाहिए, क्योकि वे ही समझ सकते हैं कि सही और भला क्या है। और हेगेल ने सिद्ध किया कि निरंकुश प्रशियन राज्य पृथ्वी पर निरपेक्ष प्रत्यय 'एकेश्वर' का अवतार है। प्रत्ययवादी दर्शन की विचार-प्रणालियाँ इस प्रकार की विशद सैद्धान्तिक विवेचनाएं सिद्ध हुई हैं, जिनसे अपने समय की समाज-व्यवस्थाओं को सही ठहराने का प्रयास किया गया यानी वे वर्गीय विचारधाराएँ थी, शासक वर्ग की वकालत के तौर पर थी।"

जैसा हमने कहा है, भारतीय काव्य रचना की परम्परा हो अथवा भारतीय काव्य-चिन्तन और आलोचना की परम्परा, भाववादी दर्शन की छाप का ही नहीं वे इस बात का प्रमाण भी देती हैं कि उनके पीछे जीवन-दृष्टि, जीवन-दर्शन और जीवनी-शक्ति के रूप मे भी इस आत्मवादी दर्शन की ही सक्रियता है, उसके विविध रूपों का ही प्रसार है, भौतिकवादी विचारों के जब तब होने वाले संक्रमण और हस्तक्षेप के बावजूद और इस नाते जब-तब उभरने वाली असंगतियो और अपवादों के बावजूद उनके पीछे बुनियादी रूप से इसी भाववादी आत्मवादी दर्शन की प्रेरणा है।

भारतीय काव्य-परम्परा के आदि ग्रंथ रामायण तथा महाभारत हैं जबकि भारतीय आलोचना का आदिग्रंथ भरत का नाट्य-शास्त्र है। अवतारवाद तथा बहु-

देवी-देवतावाद पर आधारित भारतीय पौराणिक वाङमय हो अथवा "एकोऽहंदिती योनास्ति" अथवा ब्रह्म की सर्वातिशायी तथा एकमात्र सत्ता का आख्यान करने-वाला वेदान्त, समूची भारतीय काव्य-परम्परा के शिखर इस पौराणिक वाङ्मय तथा उपनिषदो की विचारणा से अभिभूत और अनुप्रेरित हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र मे भरत की नाटक-सम्बन्धी चर्चा अथवा उनका रस-विचार जरूर लौकिक धरातल पर है और आगे लोल्लट शकुक तथा भट्टनायक तक रस की चर्चा नाट्य के तथा लोक के संदर्भ मे ही करते हैं, परन्तु भरत के नाट्य-शास्त्र के माध्यम से साहित्य-चिन्तन के जो तमाम सूत्र हमे उपलब्ध होते हैं, साहित्य की रचना तथा प्रयोजन का जो रूप सामने आता है, उसका जो वर्गीकरण है, उस पर तथा आगे के विचारको के अपने साहित्य-चिन्तन तथा आलोचना पर भारतीय आत्मवादी दर्शन के निशान सरलता से देखे जा सकते हैं। भरत का नाट्य-रस जब काव्य के रस के रूप मे अभिनवगुप्त तथा दूसरे आचार्यों के द्वारा विश्लेषित होता है तो हम सब जानते हैं कि उसे दर्शन की जो जमीन दी जाती है वह शैव-दर्शन के आगमो की जमीन हो या बौद्ध-दर्शन के आगमो की, वह वेदान्त, सांख्य, योग किसी की जमीन क्यों न हो, भारतीय आत्मवाद ही वहाँ अपना वर्चस्व सूचित करता है। साहित्य के उद्भव, प्रयोजन तथा प्रभाव की सारी चर्चा, काव्य की आत्मा को तय करने मे अपनी-अपनी मेघा की प्रखरता के साथ सामने आने वाले सारे सम्प्रदाय तथा उनसे जुड़े आचार्य-गण भारतीय आत्मवादी या भाववादी जीवन-दृष्टि का ही साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। काव्य या साहित्य के परीक्षण के मानदण्ड इसी भाववादी दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर तय होते हैं। कहने का मतलब है कि साहित्या-लोचन या काव्यालोचन मे रत सम्पूर्ण भारतीय मनीषा पर भारतीय आत्मवादी या भाववादी दर्शन का ही आधिपत्य दीख पड़ता है, सब कुछ उसी से अनुकूलित अनु-शासित और नियंत्रित होता है। ध्यान देने की बात है कि जिन्हे हम रीतिवादी, अलंकारवादी तथा वक्रोक्तिवादी सम्प्रदायो के रूप मे जानते हैं तथा जो आगे चल-कर आलोचना मे रीतिवाद, कलावाद या रूपवाद के प्रेरक बने हैं, वहाँ भी काव्य की आत्मा के रूप मे 'आत्मा' की बात बराबर मौजूद है तथा रस आदि का अस्वीकार नही है। है यह कि रस को काव्य की आत्मा न मानकर या मुख्यता न देकर उसे अपने भीतर स्वीकार कर लिया गया है, भले ही रसवत् अलंकार के रूप मे भारतीय भाववादी जीवन-दृष्टि का कतई निषेध यहाँ भी नही है, यह जरूर है कि इन सम्प्रदायो मे चर्चा का केन्द्र बदल गया है और पर दर्शन का आवरण नही चढाया गया। यहाँ विशुद्ध काव्य-चर्चा है, भाववादी चेतना से युक्त मनीषा द्वारा की जाने वाली काव्य-चर्चा, जबकि रस तथा ध्वनि के आचार्यों के यहाँ काव्य-चर्चा दर्शन की जमीन पर उस दर्शन की ऊँचाइयो को छूते हुए की गई है। कहने का मतलब यह कि कविता के लक्ष्य उसके स्वरूप, और उसकी मूलवर्ती छवि, उसकी आत्मा जैसे सवालो और उसकी आलोचना के मानदण्डो और उनके

विवरणों को लेकर भले ही इन संप्रदायों और इनसे जुड़े आचार्यों के विचारणा-सोच और निर्देशों में हमें अंतर दिखे, जैसा कि वह दीखता भी है, और इस अंतर को मुख्य मानते हुए भले ही हम इनमें से कुछ को अलंकारवादी, चमत्कारवादी, कलावादी, रीतिवादी कहें और इनकी अलग-अलग परम्पराओं की बात करें, उन्हें अलग से रेखांकित करें, आधारतः इनकी सोच भिन्न नहीं है और वह एक ही आत्मवादी दर्शन के अपने अलग-अलग रूपों से अपना नाता जोड़े हुए हैं। इनका विरोध काव्यालोचन के स्वरूप को लेकर है, दर्शन की जहाँ तक बात है वे एक ही दर्शन की जमीन पर खड़े हैं और यही कारण है कि एक के यहाँ दूसरे का कतई निषेध नहीं है वरन् किसी न किसी रूप में एक दूसरे का स्वीकार है। यह संयोग नहीं है कि जिसे आज हम काव्य-शास्त्र के रूप में जानते, समझते हैं, एक लम्बे समय तक वह अलंकार शास्त्र के रूप में ही जाना-पहचाना गया था।

हिन्दी के अपने साहित्यालोचन या काव्यालोचन को लें तो जिसे हम रीतिकालीन काव्य-शास्त्र के रूप में पेश करते हैं, उसके अन्तर्गत आने वाले लक्ष्य-ग्रन्थों के रचनाकार आचार्य-कवि रस-छन्द-अलंकार-नायिक-नायिका-भेद की चर्चा जरूर करते हैं परन्तु हम जानते हैं कि इस चर्चा का अधिकांश क्या, लगभग सर्वांश संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों का उल्था या विष्पीकरण है तथा दूसरों से यहाँ भी फर्क जीवन दृष्टि अथवा दार्शनिक दृष्टिकोण के स्तर पर नहीं, काव्य रचना या काव्यालोचन में किन बातों की मुख्यता होनी चाहिए, इसे लेकर है। रामचन्द्र की चन्द्रिका को अनेक छन्दों में वर्णित करने का संकल्प लेने वाले 'भूषण' को कविता का सर्वस्व मानने वाले, चमत्कार-प्रिय आचार्य-कवि केशव अन्ततः अनेक छन्दों में रामचन्द्र की ही चन्द्रिका लिखते हैं, यही नहीं 'विज्ञान गीता' भी लिखते हैं और भक्ति के एक सम्प्रदाय से भी जुड़ते हैं। बिहारी जैसा रचनाकार शृंगार और नायिका भेद के साथ भक्ति की रचनाएँ भी करता है तथा वह भी एक सम्प्रदाय से जुड़ता है, नीतिकथन भी करता है और पद्माकर भी नायिका भेद के साथ गंगा-लहरी की रचना करते हैं, घनानन्द निम्बार्क सम्प्रदाय से नाता जोड़ते हैं।

हिन्दी में आलोचना की परम्परा वस्तुतः आधुनिक युग में गद्य की अन्य विधाओं के साथ भारतेन्दु युग में शुरू होती है और अद्यावधि गतिशील है। आलोचना की इस परम्परा को एक नया उत्कर्ष आचार्य शुक्ल में हमें प्राप्त होता है, यह आगे चलकर आचार्य द्विवेदी, आचार्य वाजपेयी तथा दूसरे आलोचकों में और भी समृद्ध होती है। हमारा मुख्य सरोकार यहाँ आचार्य शुक्ल से है अतएव हम अपने को मुख्यतः उनके विचारों तक ही केन्द्रित करेंगे, अपनी इस मान्यता के साथ कि आचार्य शुक्ल हों या आचार्य द्विवेदी या आधुनिक युग के अन्य तमाम महत्त्वपूर्ण आलोचक साहित्य और कविता की समझ तथा परख के स्तर पर भिन्नता रखते हुए

भी इस समझ या परख के पीछे निहित जीवन दृष्टि, जीवन दर्शन अथवा दार्शनिक दृष्टिकोण के धरातल पर वे बहुत भिन्न नहीं हैं। यह वस्तुतः आत्मवादी दर्शन ही है जिसे अपने-अपने ढग से सग्रहण करते हुए उन्होंने साहित्य और कला की समझ तथा परख के सिलसिले में अपने तरीके से विनियुक्त किया है। किसी की साहित्य समीक्षा मे यह आत्मवाद शब्द-ब्रह्म के रूप मे उभरा है, किसी मे व्यक्तिवादी कलावादी मानदड लेकर सामने आया है और किसी मे समाज तथा सामाजिक से अधिक जुडकर लोक के बडे परिप्रेक्ष्य मे सामने आया है। कुछ के वैज्ञानिक विवेक तथा इसी आत्मवादी दर्शन से प्राप्त लोकवादी चेतना ने उन्हें इस आत्मवाद के दायरे में रखते हुए भी बृहत्तर मानवीय संदर्भों तथा बडे जीवन सदर्भों के संधान की ओर मोडा है, भौतिकवादी विचारों के काफी नजदीक लाकर खडा कर दिया है और कुछ इस आत्मवादी दर्शन से इतनी दूर तक बंधे हुए हैं कि उसी के भीतर जितनी दूर तक अपनी मानवीय चिन्ता तथा सामाजिक सोच को बढा सके हैं, बढ़ाया है और यह सब करते हुए तन्त्र-मन्त्र, रहस्य और अध्यात्म का अनुशासन भी मानते रहे हैं। समग्रतः इनमे से कोई अपनी मूलवर्ती भाववादी दार्शनिक चेतना से अलग नही है। किसी ने एक स्तर पर कबीर की प्रतिभा तथा प्रदेय को रेखांकित करते हुए भी दूसरे स्तर पर आत्मवादी दर्शन के साचे मे ढली अपनी सामाजिक सोच के तहत उनकी कटु आलोचना की है और इसी आधार पर तुलसी तथा दूसरे सगुण भक्तो को उनसे अधिक महत्त्व दिया है, तो दूसरे ने कबीर और निर्गुण सन्तो के काव्य की सामाजिक विषय-वस्तु और सामाजिक सोच को तत्कालीन सामाजिक ढाँचे की अमानवीयता से टकराने वाली एक प्रगतिशील सोच कहते हुए और उसका गरिमामय आख्यान करते हुए इन निर्गुण संतो के रहस्यवाद, उनकी एकातिक साधना, उनकी गुह्य उपासना—यहाँ तक कि उनके तंत्र-मत्र सबका न केवल समर्थन किया है, उनके औचित्य को प्रमाणित करने की कोशिश की है। आत्मा और ब्रह्म, सब पर हावी रहे हैं। कहते हैं कि आचार्य शुक्ल सूर के प्रेम तत्त्व को अपना मुक्त समर्थन नही दे पाए—नारी सौन्दर्य की चर्चा को अपनी नीतिवादी दृष्टि के तहत एक सीमा से अधिक पसन्द नहीं कर सके जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूर के प्रेम तत्त्व को एक सच्चे सहृदय तथा भावुक की निगाह से जाँचते-परखते हुए उसे उसकी वास्तविक मूल्यवत्ता प्रदान की। किन्तु आचार्य शुक्ल हो या आचार्य द्विवेदी या अन्य, सूर के काव्य तथा सूर की अपनी दृष्टि का उनका समर्थन या आलोचना अन्ततः भाववादी दृष्टिकोण के दायरे की ही बातें हैं—उससे भिन्न नही। इनकी आलोचना या आशसा मे मात्रा का ही अन्तर है—तत्वतः ये कतई भिन्न नहीं हैं।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी आचार्य शुक्ल के चिन्तन की बुनियादी अवधारणाओं की आलोचना करते हुए हिन्दी समीक्षा के मच पर आए—उन्होंने उनके

रसवाद का खण्डन किया, सूर के बारे में दिये गये उनके निर्णयों पर सवाल उठाए, उनकी समीक्षा दृष्टि के दोनों आयामों—रस तथा लोक मंगल को साहित्येतर घोषित किया तथा शुक्ल जी के विपरीत छायावादी रचनाशीलता के प्रामाणिक व्याख्याता के रूप में पहचाने गए—किन्तु आचार्य वाजपेयी भी अपने इन सारे उपक्रमों के बावजूद भाववादी जीवन-दृष्टि के दायरे में ही रहे—उससे एक इंच भी आगे नहीं बढ़ पाए—और यही अंततः उनकी सीमा भी बनी। अज्ञेय जैसे प्रयोगवादियों तथा नई कवितावादियों ने शुक्ल जी के ही नहीं—समूचे भारतीय रसवाद पर चोट की, बौद्धिकता तथा विवेक के नारे लगाए, व्यक्ति की निजता तथा स्वातन्त्र्य पर लंबे चौड़े दावे किए किन्तु अज्ञेय अंततः आँगन के पार के द्वार—और उनके आगे के द्वारों में भटकते हुए असाध्य वीणा साधते नजर आए और नई कवितावादियों ,का हल तो यह हुआ कि आत्मवादी दर्शन की ऊंचाइयां तो दूर वे उसकी तलहटियों में ही दयनीय समर्पण करते देखे गए—उनके पल्ले आत्मवादी दर्शन का रूपवाद तथा प्रतिक्रियावाद ही पड़ा। कहने का तात्पर्य यह कि आचार्य वाजपेयी की सौष्ठववादी दृष्टि हो, याकि अज्ञेय और उनके समानधर्माओं की रूपवादी-व्यक्तिवादी दृष्टि, ये सब अपनी उपलब्धियों, सीमाओं, उत्कर्ष, अपकर्ष, अधिकाधिक मानवीय सरोकारों अथवा न्यूनतम मानवीय-सामाजिक दृष्टि के बावजूद एक ही विचारदर्शन और एक ही दार्शनिक जमीन पर खड़ी आलोचना दृष्टियां हैं, एक ही परम्परा के उत्कर्ष या अपकर्ष और प्रसार संकोच के आयाम हैं।

मार्क्सवादी आलोचना चूंकि एक भिन्न दार्शनिक बुनियाद पर खड़ी आलोचना है, यही कारण है कि कविता हो या मानव-जीवन, संसार हो या समाज, इनसे जुड़े हर महत्त्वपूर्ण सवाल पर उसके प्रस्थान बिन्दु ही भाववादी, आदर्शवादी आलोचना दृष्टियों से गुणात्मक रूप में भिन्न है। उसके अन्तर्गत कहीं पर भी और किसी भी सवाल पर भौतिक जगत से बाहर की किसी ताकत की दखल नहीं है। उसकी किसी भी अवधारणा में, वह सामाजिक जीवन से सम्बद्ध हो या कविता के अपने संसार से, अमूर्त और अव्यक्त का कहीं पर भी प्रवेश या हस्तक्षेप नहीं है। समाज तथा मानव जीवन सम्बन्धी उसका नजरिया हो, मनुष्य के सारे रचनात्मक और सांस्कृतिक कर्म के बारे में उसकी मूलवर्ती दृष्टि हो, पहले प्रकार की आलोचना दृष्टियों से अलग है। उसका सौन्दर्यशास्त्र ही भाववादी दर्शन से प्रेरित और अनुप्राणित सौन्दर्यशास्त्र से भिन्न है।

हमारा इरादा यहाँ मार्क्सवादी आलोचना की विस्तृत चर्चा करने का नहीं है। एक दूसरी परम्परा के रूप में उसे रेखांकित करते हुए भी यहाँ हम इस तथ्य पर ही कुछ कहना चाहेंगे कि अपना अलग वजूद रखते हुए भी वह आलोचना की आदर्शवादी-भाववादी परम्परा को न केवल पूरी तरह नकारती है, अपने वैज्ञानिक विवेक के तहत उसका मूल्यांकन करते हुए उसके मूल्यवान अंशों को अपनी विचा-

सत के रूप में स्वीकार करती है। इसी बिन्दु पर हम मुख्यतः इस बात को रेखांकित करेंगे कि आलोचना की आदर्शवादी, भाववादी धारा से जुड़े होकर भी आचार्य शुक्ल दूसरी परम्परा की इस मार्क्सवादी आलोचना के साथ अपना क्या और कैसे रिश्ता रखते हैं और यह भी कि उनका अपना चिन्तन तथा आलोचना-कर्म आलोचना की इस दूसरी परम्परा के लिए किन आयामों पर और किन अर्थों में एक मूल्यवान विरासत है।

ऊपर के अपने विवेचन में हम यह कह चुके हैं कि आदर्शवादी, भाववादी दर्शन से प्रेरित भारतीय आलोचनाशास्त्र एकायामी न होकर बहुयामी है। इसके अंतर्गत रसवाद भी पनपा और ऊँचाइयों तक पहुँचा है और रीतिवाद, अलंकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद जैसी अवधारणाएँ भी पनपी हैं जिन्होंने अपने समय में भी और आगे चलकर, रूपवादी और कलावादी विचारों को पनाह-प्रश्रय दिया है। उसके अन्तर्गत व्यक्ति के समाज जैसी बड़ी सत्ता में विलयन और बद्धदशा से मुक्तहृदयता तक होने वाले विकास की सम्भावनाएँ भी फूटी हैं और निहायत निजबद्धता और आत्मकेन्द्रित अहंवाद के लिए भी अवकाश रहा है। रसराज शृंगार जहाँ सूरदास जैसे रचनाकारों की संवेदना का संबल पाकर अछूती ऊँचाइयों तक उठा है तो ऐसे रचनाकार भी हुए हैं जो उसे सतह से ऊपर तक ले जाने में कतई असमर्थ रहे हैं। उसके अन्तर्गत कविता के रूप में नक्काशी और पच्चीकारी, चमत्कार और करतब भी हुए हैं और कविता हमारे दिल-दिमाग को कहीं गहरे आन्दोलित करती हुई भाव-प्रतिमा बनकर भी आई है, मनुष्यता के बड़े-बड़े सरोकारों तक भी पहुँची है। अतएव इस बिन्दु पर हमारा कहना यही है कि भाववादी, प्रत्ययवादी दर्शन के दायरे में विकसित और पल्लवित हुए भाववादी काव्यशास्त्र के हर उस पहलू को दूसरी परम्परा की मार्क्सवादी आलोचना ने स्वीकार किया, सहेजा तथा विकसित किया है जो कविता तथा मनुष्यता के उन बड़े प्रयोजनों से जुड़ा है जिनकी चर्चा हम आचार्य शुक्ल के प्रसंग में करेंगे तथा जो कविता को महज शब्दक्रीडा या मानसिक विलास के स्तर पर उठाकर मनुष्य को एक जीवन सांस्कृतिक कर्म के रूप में प्रतिष्ठा देते हैं। आचार्य शुक्ल हमारी विरासत इसलिए हैं कि भाववादी दर्शन की अपनी सीमाओं के नाते उपजी असंगतियों के बावजूद अपने समय के ज्ञान-विज्ञान से अर्जित एक नए विवेक के तहत वे अपनी जीवन दृष्टि के दायरे में रहते हुए भी उसकी अनेक पर्तों को तोड़ते हैं, स्वतः अपने रास्ते पर शंकाएं उठाते हैं, नये रास्तों की तलाश करते हैं और एक लम्बे वैचारिक संघर्ष के क्रम में एक उच्चतर काव्य विवेक और वैसे ही जीवन विवेक का संश्लेषण प्रस्तुत करते हुए भाववादी काव्यशास्त्र की रचनात्मक सम्भावनाओं को उस बिन्दु तक पहुँचाते हैं जो कविता तथा जीवन के हमारे प्रयोजनों के निकट ही नहीं आतीं, हमारे अपने रचनात्मक तथा विचारात्मक संघर्ष में अपनी सीमाओं के बावजूद, हमारी मददगार बनती हैं।

आचार्य शुक्ल हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में उस समय आते हैं जबकि हिन्दी समीक्षा अपना रास्ता-भर बना रही थी और जब आलोचना को महज शास्त्रों में निर्दिष्ट गुण-दोष-कथन की सतही अभिव्यक्ति के रूप में पेश करने वालों से या कि अपनी मध्यकालीन सामन्ती अभिरुचि के तहत उसे रीतिवाद और कलावाद के गलियारों में भटकाने वालों से कुछ ऐसे लोग टकरा रहे थे जो भारतीय नव-जागरण की चेतना से दीप्त थे और जिनके लिए कविता मुख्यतः और मूलतः जन-समूह के हृदय का विकास थी। एक ऊर्जस्वित भावसत्ता थी तथा जो उसे अभिजात रुचियों के दायरे से अलग बृहत्तर मानवीय तथा सामाजिक प्रयोजनों से जोड़ना चाहते थे। यह एक ही जीवन-दृष्टि के दायरे में विकसित दो प्रकार की आलोचना दृष्टियों का संघर्ष था।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा के मंच पर अपने आगमन के साथ ही इस वैचारिक संघर्ष में एक पक्षधर की भूमिका निबाहते हुए शिरकत की और न केवल कविता को एक गंभीर सांस्कृतिक कर्म मानने वालों का, उसकी भावसत्ता की हिमायत करने वालों का साथ दिया, काव्यालोचन के ऐसे मान भी प्रस्तुत किए जो उच्चतर कविता को निम्नतर कविता से अलगा सकें, जो एक स्तर पर कविता के कलावाद तथा रीतिवाद और रूपवाद व चमत्कारवाद का पर्दाफाश कर सकें, दूसरी तरफ कविता के सामाजिक प्रयोजनवाद पर भी इस तरह का अंकुश लगा सकें कि वह कविता की, अपनी प्रकृत छवि उसकी अपनी भाव तथा सौन्दर्य सत्ता को आहत न कर सके।

जाहिर है कि यह कार्य सहज ही सम्भव न था और इसके लिए आचार्य शुक्ल जीवन-भर एक योद्धा की तरह संघर्षरत रहे। उनका आलोचना कर्म एक गहरी निरन्तर चलने वाली कठोर साधना तथा वैसी ही सक्रियता का फल है। यदि हम कहें कि शुक्ल जी के आलोचना कर्म में आलोचना सार्थकवती होती है तो कोई अत्युक्ति न होगी। तमाम दीगर भूमियों पर आचार्य शुक्ल के विचारों का विरोध करने वाले उनके जीवन-काल के ही आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जब शुक्ल के प्रदेय का इन शब्दों में स्मरण करते हैं तो किसी औपचारिकता का निर्वाह नहीं करते, उस सच्चाई का ही कथन करते हैं जिससे वे उस समय भी परिचित थे जब उन्होंने शुक्ल जी की आलोचना की थी, उन्हें हिन्दी समीक्षा का 'बालारुण' कहते हुए आगे की समीक्षा को मध्याह्न की नई उष्मा और नये प्रकाश से युक्त बताया था।

शुक्ल जी ने अपने समय की एक अर्धजागृत साहित्य चेतना को दिशा ज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे चले और मंजिल तय की। विपर्यन्त लक्षण ग्रन्थों की परम्परा को साहित्य शास्त्र की पदवी तक पहुँचाया, उसे आदर्शा-त्मक स्वरूप प्रदान किया। अपने उच्चकोटि के अध्ययन और व्यक्तित्व की छाप से

साहित्य पर छोड़ गए हैं। प्राजलता और महाकाव्योचित औदात्य के लिए यह युग शुक्ल जी को स्मरण करेगा। साहित्य समीक्षा की हैसियत से शुक्ल जी मे सबसे बड़ी बात यह नहीं है कि उन्होंने उच्चतर काव्य को निम्नतर काव्य से अलग किया बल्कि उन्होंने वह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर को पहचान सकें। पांडित्य की उनमे अप्रतिहत गति थी। विवेचना की उनमे विलक्षण शक्ति थी। वे सच्चे अर्थ मे साहित्य के आचार्य थे।"

आचार्य शुक्ल कितनी जबर्दस्त वैचारिक तैयारी के साथ आलोचना के क्षेत्र मे आये थे इसका सही अनुमान हमे तब होता है जब हम उनकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा से रूबरू होने हुए उनकी मूलवर्ती समीक्षा दृष्टि से परिचित होते हैं। उनकी यह समीक्षा दृष्टि अखड किन्तु बहुआयामी है जो किसी रचना के साहित्यिक महत्त्व तथा मूल्यवत्ता को आँकने के लिए अहम होते हैं तथा मात्र एक अच्छी रचना तक ही सीमित न होकर उसके बड़ी रचना होने का प्रमाण भी देते हैं। रचना या कलाकृति के महत्त्व तथा मूल्यवत्ता के प्रतिमान रचना या कलाकृति के भीतर ही होते हैं। आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि इस रूपवादी कलावादी धारणा का प्रतिकार करती हुई न केवल रचना या कला के अपने प्रयोजनो का दायरा विस्तृत करती है, साहित्य तथा कला को जिन्दगी की बुनियादी चिन्ताओ से जोड़ते हुए कविता और कला को एक मानवीय कर्म, एक सामाजिक दायित्व के रूप मे सामने लाती है। शुक्ल जी की इस आलोचना दृष्टि के पीछे एक गहरे तथा व्यापक अध्ययन की बुनियाद है जिसके अन्तर्गत भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-शास्त्र, भारतीय तथा पश्चिमी दर्शन, इतिहास, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्र, नृशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा अनेक बुनियादी तथा व्यावहारिक विज्ञान शामिल हैं। उनकी यह आलोचना दृष्टि एक नये विवेकवाद के तहत भारतीय तथा पश्चिमी व्यक्तिवाद तथा भारतीय रूढवाद दोनों का खण्डन करती हुई पश्चिम और पूर्व का कोई भेद न मानते हुए दोनो की जीवन्त विरासत को अपने जाग्रत विवेक के तहत पहचानती और स्वीकार करती है तथा सिद्धान्त और व्यवहार दोनो आयामो पर उसका कारगर और सतर्क उपयोग करती है।

हम जानते हैं कि रस तथा लोक मंगल शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि के दो प्रधान आश्रय हैं जिनका परस्पर अन्तर्भाव ही उसे एक संश्लिष्ट स्वरूप प्रदान करता है। इन दोनो अवधारणाओ को शुक्ल जी ने भारतीय परम्परा से ही ग्रहण किया है परन्तु एक परम्परावादी के रूप मे नही, उन्हे नया अर्थ और नई व्याख्या देने वाले एक वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न आलोचक के रूप मे। परम्परा उन्हे वही तक ग्राह्य है जहाँ तक वह उनके वैज्ञानिक विवेक की सगति मे है उसके आगे वे परम्परा को छोड़कर अपना नया मार्ग निकालते हैं और पूर्व तथा पश्चिम के हर

ज्ञान से जुड़ते हैं जो उनके जाग्रत साहित्य विवेक तथा जीवन विवेक की संगति में आता है और उसे पुष्ट करता है। आत्मवादी जीवन दृष्टि से कहीं गहरे जुड़े होते हुए भी वे जगत की सत्यता तथा निरन्तर गतिमयता को मानते हैं और संसार को अव्यक्त की अभिव्यक्ति कहते हुए भी अपनी काव्य समीक्षा और सामाजिक जीवन की व्याख्या मे उसे भरसक बीच मे नही आने देते। कविता तथा कला उनके लिए लोक जीवन तथा वस्तु जगत के सन्दर्भ मे ही स्वीकार्य हैं और भावप्रसार भी ज्ञान-प्रसार के दायरे मे ही। कविता की रचना हो या समीक्षा अमूर्त, अव्यक्त या कि वस्तुजगत से बाहर की किसी भी सत्ता की 'दखल' उनको स्वीकार नही है। इसी बिन्दु पर काव्य-विवेचन तथा रस सम्बन्धी अपनी अवधारणा को विशुद्ध लोक की भूमि और मनुष्य की मुक्त हृदयता से जोड़कर शुक्ल जी ने कविता की चली आती हुई तमाम शास्त्रीय परिभाषाओं से पृथक् उसे मनुष्यता की आधारभूत शर्त के रूप मे, बेहतर मनुष्यता की प्रेरणा के रूप मे व्याख्यायित किया और उसके प्रयोजन को मानवता की रक्षा के उच्चतर कर्मों से सपृक्त कर उन्होंने रस तथा लोकमंगल की अपनी अवधारणाओं का सश्लेषण प्रस्तुत किया। कविता का प्रयोजन हमे कैसे भी आनन्द मे डुबोना नही, हमे लोक-कल्याण विधायक उच्चतर कर्मों मे प्रवृत्त करना है, शुक्ल जी की यह बात उनकी अपनी है और उनकी सोच को अपनी विशिष्ट जीवन दृष्टि के दायरे मे ही एक गुणात्मक उत्कर्ष देती है, उस दूसरी परम्परा की सोच के निकट लाती है। हम रस तथा लोकमंगल की शुक्ल जी की अवधारणाओं के विस्तार मे नही जाएँगे परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि वहाँ परम्परा से शुरू करके भी शुक्ल जी परम्परा का अतिक्रमण करते हैं, आत्मवादी दर्शन से जुड़े होकर भी उससे भिन्न स्थापना देते हैं। लोक अथवा वस्तु जगत केन्द्रित उनका चिन्तन भौतिकवादी चिन्तन न होते हुए भी और अन्तर्विरोधयुक्त होते हुए भी एकदम आत्मवादी भी नहीं है। उनके चिन्तन का भौतिकवाद यदि सुसंगत भौतिकवाद नही है तो उनके चिन्तन का आत्मवाद भी सुसंगत आत्मवाद नही है। शुक्ल जी के दार्शनिक चिन्तन में इतने अन्तर्विरोध हैं कि उन्हे कोरमकोर आत्मवादी या भौतिकवादी कहने मे दिक्कतें हैं। अधिकतर और गहरे कही आत्मवादी होते हुए भी वे व्यवहार में अधिकतर भौतिकवादी ही नजर आते हैं।

आचार्य शुक्ल के लोकमंगलवाद पर, उसके विचार पक्ष पर विचार करें तो उसके साहित्येतर होने जैसे आरोप का, जो प्रायः उस पर लगाया जाता है, बहुत कुछ निराकरण हो जाता है। हम यह पहले भी कह चुके हैं कि आचार्य शुक्ल, कविता और साहित्य के समीक्षक तथा विचारक होते हुए भी विशुद्ध कविता, विशुद्ध कला या कि विशुद्ध साहित्य के हिमायती नहीं हैं। यह आत्मवाद-प्रेरित

सौन्दर्य-शास्त्र का एक ऐसा अतिवादी आयाम और आग्रह है जिससे उसी आत्मवादी की जमीन पर रहते हुए शुक्ल जी जीवन भर टकराये हैं। कविता तथा साहित्य की भावसत्ता तथा उसके सौन्दर्य पक्ष के पूरे स्वीकार के साथ उन्होंने उसे जिन्दगी तथा मानवता की अहम् चिन्ताओं से जोड़े रखने का उपक्रम किया है और इसी का प्रमाण उनके रस तथा लोकमंगल के प्रतिमान हैं। उनके रस चिन्तन की कुछ चर्चा हमने की है जो परंपरा से हटकर रस को हृदय की मुक्तावस्था के रूप में, मनुष्य को मनुष्यत्व की उच्च कक्षा में पहुचाने वाली इयत्ता के रूप में, लोककल्याण-विधायक कर्मों में मनुष्य को संलग्न करने वाली प्रेरणा के रूप में, अपने व्यक्तित्व को शेष समाज से जोड़ने वाली प्रेरक शक्ति के रूप में परिभाषित करता है और इसी बिन्दु पर कविता को आदमीयत के मूलभूत तकाजे के रूप में प्रतिष्ठा देता है। सच पूछा जाय तो लोकमंगल का उनका सिद्धान्त यहीं आकर उनके रस के साथ अन्तर्भुक्त होता है। उनके लिए मानवता की उच्च कक्षा पर पहुँचना ही लोकमंगल की जमीन पर पहुँचना है। व्यक्ति का अपना स्वार्थ-संबंधों से मुक्त होकर शेष संसार से एकात्म होना ही लोक हृदय के निकट आना है और कविता की प्रेरणा से व्यवहार जगत में अपनी मुक्त हृदयता को अपने वातावरण में चरितार्थ करना ही उसका लोकमंगल के कार्यों में प्रवृत्त होना है। विरुद्धों के सामंजस्य के बीच से फूटना व्यवहार जगत का सौन्दर्य ही कविता और जीवन का सच्चा सौन्दर्य है और यह सौन्दर्य उनके अनुसार मंगल का पर्याय है। इस सौन्दर्य का शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य जैसी नैतिक अवधारणाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि शुक्ल जी के अनुसार कविता में केवल सुन्दर और कुरूप के लिए ही स्थान है और जो सुन्दर है वह अवश्यम्भावी रूप से मंगल भी है। सौन्दर्य की इस सत्ता का रूप समग्रता के बीच से ही सामने आता है, वह व्यवहार जगत और मनुष्य के एक देशीय आयाम पर नहीं पहचाना जा सकता। हमने एक जगह कहा है कि शुक्ल जी की कविता-सम्बन्धी अवधारणा, उनके काव्यशास्त्रीय प्रतिमान महज अच्छी कविता या अच्छी कविता का निर्णय देने वाले प्रतिमान नहीं हैं, जिसे हम महान साहित्य, महत्तर कविता अथवा महान साहित्य के निर्णायक प्रतिमान कह सकते हैं, वे हैं। और यह बात प्रायः स्वीकृत है कि अच्छी कविता की कसौटी भले ही कविता के भीतर हमें मिले, महान कविता की कसौटी मात्र कविता की अपनी जमीन पर नहीं उससे बाहर उस जमीन पर हमें मिलती है जिसे हम मानव-जीवन की जमीन कह सकते हैं और कविता अपना प्राण रस जहाँ से पाती है, जो किसी भी कविता के अस्तित्व की नहीं, उसकी शक्ति का भी स्रोत होती है। अतएव, लोकमंगल जैसे प्रतिमान को साहित्येतर न समझ कर हमें उसे रस के प्रतिमान के पूरक के रूप में अथवा दोनों को एक और अखंड रूप में ही स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए।

एक शंका लोक मंगल या शुक्ल जी के रस-सम्बन्धी प्रतिमान की अपर्याप्तता को रेखांकित करते हुए यह उठाई गई है कि उनमें महज आस्वादनात्मक कृतियों की ही केन्द्रीयता है, प्रगीत या मुक्तक कविता के अन्य रूपों की उनके यहाँ अप्रतिष्ठा या अवमानना होती है। यह शंका अपनी जगह पर एक सही शंका है और शुक्ल जी की काव्य-शास्त्रीय सोच की कुछ असंगतियों को भी उभारती है। मसलन, सिद्धान्त और विचार के स्तर पर न सही व्यवहार के स्तर पर जब हम 'पूर्ण कविता' के नियामक इस लोक मंगल की साधानावस्था के सिद्धान्त के अन्तर्गत 'हम्मीर रासो', 'पृथ्वी राज रासो', और तो और 'आल्हा' तथा भूषण जैसे वीर रसात्मक मुक्तकों के रचयिताओं के नाम देखते हैं, और जो पूर्ण काव्यत्व का निदर्शक नहीं है ऐसे सिद्धावस्था के सिद्धान्त के अन्तर्गत सूरदास और बिहारी जैसे रचनाकारों की चर्चा पाते हैं तो जरूर लगता है कि जैसे लोक मंगल या मंगल जैसे तत्व को किसी सतही और नितान्त नैतिक अवधारणा की वेदी पर उच्चतर कविता की बलि दे दी गई है। यहाँ पर उच्चतर काव्य से निम्नतर काव्य में फर्क करने वाला तथा हमें उनका फर्क बताने वाला शुक्ल जी का काव्य-विवेक और जीवन-विवेक असंगतियों में फंसा नजर आता है और लगता है कि रस और लोक मंगल का अन्तर्भाव उनके जेहन में उस सीमा तक नहीं हुआ है जहाँ उच्चतर कविता की समझ और उच्चतर जीवन की समझ इतनी संश्लिष्ट हो चुकी हो कि अलग से उसे पहचाना न जा सके। जरूर यह अवधारणा मुक्तक कविता के साथ अथवा कविता को उस समझ के साथ जो शुक्ल जी हमें देना चाहते हैं और जो प्रायः देते हैं, प्रायः गड़बड़ा जाती है और उसका कारण शुक्ल जी के अपने कुछ पूर्वाग्रह, उनकी काव्य-दृष्टि और जीवन-दृष्टि की कुछ असंगतियाँ तथा सीमाएँ हैं जिन्हें रस की उत्तम, मध्यम और अधम जैसी कोटियों और मंगल को सौन्दर्य का पर्याय मानने जैसी बात साफ नहीं पाती।

परन्तु इस मुद्दे पर शुक्ल जी का भी एक पक्ष है जिसे हम स्पष्ट करना चाहेंगे। वस्तुतः शुक्ल जी मानव जीवन के जिस वैविध्य को, व्यवहार जगत के, विरुद्धों के सामंजस्य के बीच से उभरने वाले जिस सौन्दर्य को उसके सारे अन्तर्विरोधों के साथ देखना और दिखाना चाहते हैं उसके लिए प्रबन्ध रचनाएँ ही सही आधार बन पाती हैं, जहाँ विभाव पक्ष की पूरी समृद्धि के बीच रस और लोकमंगल की उनकी अवधारणा अपनी आकांक्षित परिणति प्राप्त करती है। सीमा यह शुक्ल जी के मानदण्ड की है, परन्तु इस सीमा के बावजूद मानव-जीवन के जिस समग्र परिदृश्य को एक गहरी मानवीय तथा सामाजिक संपृक्ति के साथ वे अपने विचारों और व्यवहारों में उभारते या उभारना चाहते हैं, इस बारे में उनकी अपनी चिन्ता को कम करके नहीं आँका जा सकता।

हिन्दी की समीक्षा को विवेचन और विश्लेषण की, विचार और उससे पुष्ट

अवधारणाओं की, उच्चतर और निम्नतर मे विवेक कर पाने की समझ से युक्त करने के अलावा शुक्ल जी का एक बहुत बड़ा प्रदेय यह है कि सही समीक्षा के इस आदर्श को उन्होंने शक्तिभर व्यवहार्य बनाकर प्रस्तुत किया कि उसके सभी अंग समान रूप से सुविन्यस्त हो। वस्तुतः यही कारण है कि आज भी किसी रचना के समग्र मूल्यांकन के लिए वह मानक बनी हुई है। वह जितना रचना के अन्तरंग मे प्रवेश करने वाली है, उतनी ही दक्षता से रचना के अभिव्यक्ति पक्ष को जांचती और परखती है, कविता की भावसत्ता को, उसकी सौन्दर्यात्मक निर्मिति को वह जितनी गहराई मे जाकर स्पष्ट करती है, कविता की इस निर्मिति के पीछे जिन उपकरणों का योग है—उनकी भी अवहेलना नही करती। यही नहीं, रचनाकार के अनुभूति पक्ष के साथ उसके जीवन-विवेक को भी चाहते हुए वह उस रचना की समग्र मूल्यवत्ता पर निर्णायक अभिमत देती है। मुक्तिबोध ने कही रचनाकार मे काव्य-विवेक और जीवन-विवेक मे उतनी ही दक्षता की बात की है। शुक्ल जी मे, जैसा कि हम कह चुके हैं, उच्चतम काव्य-विवेक के साथ सदैव वैसा ही जीवन-विवेक रहा, इसीलिए उनकी समीक्षाएँ और उनके समीक्षा-सिद्धान्त आज भी प्रमाण बने हुए हैं। उनकी व्यावहारिक समीक्षा आज भी मानक समीक्षा बनी हुई है। किसी रचना या रचनाकार के बारे मे शुक्ल जी के अभिमत को उद्धृत कर हम इस प्रकार आश्वस्त हो जाते हैं जैसे कि वह अकाट्य हो। हिन्दी समीक्षा मे सिद्धान्त और व्यवहार का जो अद्भुत एकात्म हमे शुक्ल जी मे दिखाई पड़ता है, विचारो की जो दृढ़ता, अपनी स्थापनाओं के प्रति जितना गहरा आत्मविश्वास, उनके प्रति बनी रहने वाली निष्ठा और सिद्धान्त के स्तर पर गैर-समझौतावाद मिलता है, वह विरल है।

कविता की भावसत्ता को रेखांकित करते हुए भी शुक्ल जी कविता मे निरी भावुकता का, कोरे हृदयवाद का दृढ़ विरोध करते हैं। बुद्धिवाद तथा विवेकवाद के हिमायती होते हुए भी कविता को दिमागी कसरत का अखाड़ा बनानेवाली प्रवृत्ति के भी वे खिलाफ हैं। नक्कालो, भावुकता की नकल करने वालो और कविता को कशीदेकारी का पर्याय माननेवालो पर वे समान रूप से प्रहार करते हैं। कविता उनके लिए एक ऐसी भाव-प्रतिमा, एक ऐसा भाव-योग है जहाँ छल छद्म, हुनर और फितरत की मनाही है। जहाँ चापलूसो और खुशामदियों के लिए, कविता को एक तमाशे के रूप मे पेश करने वालों के लिए बस लानतें ही हैं। महलों और अट्टालिकाओ मे सराही जाने वाली कविता, श्रीमानो के शुभागमन पर लिखी जाने वाली कविता, सामन्तों के दरबारो मे तर्जबया की होड़ करती कविता उनके लेखे, कविता न होकर, बाजीगरी है, नुमाइश है। असाधारण को केन्द्र मे रखकर गतिशील होनेवाली कल्पना की तुलना मे साधारण और सामान्य की वस्तुन-

की केन्द्रीयता में उभारने वाली कविता उनके लिए सही और अच्छी कविता है। गहरी अनुभूति के अभाव में कविता कविता न होकर शब्द-जाल बन जाती है, शुक्ल जी एकाधिक बार इस तथ्य को अपनी काव्य समीक्षा में रेखांकित करते हैं। कविता के लिए वे एक प्रशस्त जमीन के हिमायती हैं, जहाँ विषयों का वैविध्य हो, भावों की अनेकरूपता हो और जो कुछ अनुभूति में ढलकर आवे वह मूर्त और साकार हो, अमूर्त और गोपन न हो।

शुक्ल जी का समय राजनीति में गाधी जी और गांधीवाद के उत्कर्ष का समय था। कविता के क्षेत्र में यह रवीन्द्रनाथ की सर्जनात्मक प्रतिभा के महत्त्व का काल भी था। कदाचित ही इस युग का कोई महत्त्वपूर्ण लेखक हो जिसके लेखन और विचारों पर युग की इन दो महान् हस्तियों के विचारों तथा प्रतिभा की छाप न पड़ी हो। शुक्ल जी इस कथन के अपवाद बनकर सामने आते हैं, और न केवल अपने विचारों और चिन्तन में अपने इन महान् समकालीनों के प्रभाव को अस्वीकार करते हैं, अपने स्तर पर इनके विरोध में भी खड़े होते हैं। गाधी और तोलस्तोय की एकदेशीयता और अहिंसावाद के विरोध में उनका लोकमंगल का सिद्धान्त क्षात्रधर्म का प्रतिपादन करता है तथा रहस्यवाद और मधुचर्या का उनका विरोध सीधे रवीन्द्रनाथ की रचनाशीलता से टकराता है और वे अपनी जमीन पर कायम रहते हैं। अपने समय के महानों से अलग, उनका विरोध करते हुए, अपना रास्ता खुद बनाना, उसका दुस्साहस नही उनके संकल्पों और मान्यताओं की तेजस्विता का प्रमाण है। इस बिन्दु पर सिर्फ प्रेमचन्द उनके साथ खड़े होते दिखाई पड़ते हैं। और कहना न होगा कि अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर अलग होते हुए भी शुक्ल जी और प्रेमचन्द जी दूसरे तमाम मुद्दों पर साहित्य और जीवन की तमाम चिन्ताएँ लिए एक साथ आगे बढ़े हैं। हिन्दी साहित्य का द्विवेदीयुग इन दो महान् रचनाकारों की शिखर-उपलब्धियों से जिस प्रकार गौरवान्वित हुआ है, उसकी भी मिसाल विरल ही है।

आचार्य शुक्ल हिन्दी आलोचना को जिस ऊँचाई तक पहुँचाते हैं, विवेचन तथा, विश्लेषण की जिस पद्धति से उसे जोड़ते हैं तथा सही कविता और छद्म कविता को पहचान पाने के जिस विवेक से उसे युक्त करते हैं वह हिन्दी आलोचना को उनकी महानतम देन है। साहित्य में सामन्ती संस्कृति का विरोध करते हुए मध्यकालीन रीतिवाद, आधुनिक कलावाद और रूपवाद से जिस दृढ़ता से लोहा लेते हैं, साहित्य तथा कविता को लोक जीवन के दायरे में ही विवेच्य बताकर रचना और विचार दोनों ही क्षेत्रों में जिस प्रकार गैर बुद्धिवादी, रहस्यवाद जैसे रुझानों का खंडन करते हैं, कविता को व्यक्तिवाद की अन्धी गलियों से निकाल कर जिस प्रकार गहरे मानवीय तथा सामाजिक प्रयोजनों के साथ एकमेक करते हैं

और अपनी विचारपूर्ण विश्लेषणात्मक आलोचना के माध्यम से हिन्दी भाषी जन-समाज की रचनाशीलता और वैचारिक ऊर्जा को दूसरी भाषा वालो के समक्ष जिस सामर्थ्य से पेश करते हैं, वह सब उनके युगान्तकारी कार्य का प्रमाण है। पूर्व तथा पश्चिम के बड़े-बड़े दिग्गजो के समक्ष भी आतंकित न होते हुए महत्तर और उदात्त तत्त्वों से युक्त रचनाशीलता का पक्षधर होकर उनके द्वारा कविता और जीवन के एकात्म की जो मिसाल सामने रखी गई है वह सचमुच हमारी और दूसरी परम्परा की हमारी आलोचना दृष्टि के लिए उनका वह प्रदेय है जिसे हम कृतज्ञता से स्वीकार करते हैं। इसी जमीन पर वे हमारे लिए ग्राह्य हैं। उनकी असंगतियाँ और सीमाएँ अलग, उनकी यह देन हमे उनके बावजूद स्वीकार है। शुक्ल जी के उपरान्त आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे समीक्षक और आचार्य भाववादी साहित्य दृष्टि और जीवन दृष्टि के दायरे मे रह-कर शुक्ल जी की जमीन को और भी प्रशस्त करते हैं। उनकी उपलब्धियो मे अपने ढंग से इजाफा करते हैं, परन्तु दूसरी दार्शनिक परम्परा जिस भिन्न दार्शनिक बुनियाद पर खड़ी होती है, कविता तथा काव्यालोचन की जिस नई समझ को सामने लाती है उसके साथ इनका उतना नहीं, जितना शुक्ल जी का नाता जुड़ता है। दूसरी परम्परा की आलोचना-दृष्टि मे शुक्ल जी का असंगत भौतिकवादी चिन्तन अपने अन्तर्विरोधों से मुक्त होकर एक वैज्ञानिक आधार पाता है। कविता की शुक्ल जी की लोकपरक व्याख्या तथा उनके लोकमंगल, दोनों को यहाँ एक सुसंगत विचार और दर्शन की एक जमीन मिलती है, फलतः साहित्य तथा कविता की विवेचना अधिक धारदार और कारगर रूप मे सामने आती है। शुक्ल जी की सामाजिक सोच पर यहाँ गहरे प्रश्न चिह्न भी लगते हैं। और समाज तथा इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या के रूप में कविता ही नही, मनुष्य के सारे सांस्कृतिक कर्म अन्ततः एक नये समाज तथा एक नई मनुष्यता की रचना के संकल्प मे अपनी चरितार्थता पाते हैं।

शुक्ल जी की जिन विचारगत असंगतियो, अन्तर्विरोधों तथा कविता और जीवन सम्बन्धी समझ की जिन सीमाओ का जिक्र पिछले पृष्ठो मे हमने एकाधिक बार किया है, उन पर सभेद मे एक दृष्टिपात जरूरी है, ताकि उनकी उपलब्धियो को विरासत के रूप मे सहेजते और सर्वांधित करते हुए हम उनकी सीमाओं से वाकिफ बने रह सकें। यही नही जिस प्रकार शुक्ल जी अपने समय के दकिया-नूसी प्रतिगामी विचारों से टकराते हुए और उन्हें पृष्ठभूमि मे डालते हुए आगे आए थे, हम भी शुक्ल जी की अपनी सीमाओ से टकराते हुए महज उनकी उपलब्धियो को ही आत्मसात करें। परम्परा के मूल्याकन का यही नजरिया दूसरी परम्परा की आलोचना हमे देती भी है। अस्तु सस्कार और विवेक को गहरी

कशमकश आचार्य शुक्ल के मानस में निरन्तर चलती रही है। अपने ढंग से यह कशमकश प्रेमचंद या किसी भी ऐसे रचनाकार-विचारक की भी सच्चाई है जो परम्परा से अपने गहरे लगाव के बावजूद अपने खुद के समय से आँखें मिलाए रहता है और उससे आगे भी देखना चाहता है। किसी लेखक या विचारक की अपनी जीवन्तता का प्रमाण यह होता है कि उसमें संस्कार और विवेक की इस कशमकश का रूप कितना तीखा और धारदार है। इस कशमकश के क्रम में जाग्रत विवेक की धार तमाम सारे पूर्ववर्ती संस्कारों की पर्तों को काटती है और रचनाकार या विचारक का एक अभिनव वैचारिक अभ्युदय होता चलता है। भाववादी और वस्तुवादी या भौतिकवादी जीवनदृष्टि का जो द्वन्द्व हमें शुक्ल जी में दिखाई पड़ता है वह इसी कशमकश का प्रमाण है। अपने जाग्रत विवेक के तहत ही शुक्ल जी परम्परा से टकराते हैं, साहित्य और जीवन हर स्तर पर उससे शुरू करके भी उससे हट जाते हैं, अपने नये विवेक के तहत नई उद्भावनाएँ करते हैं, परन्तु अन्ततः अपनी जमीन पर उसका तमाम कुछ छोड़ते हुए भी, तमाम कुछ लिए दिए लौट आते हैं, टिक जाते हैं। जिसे लिये दिये वे अपनी जमीन पर टिके रहते हैं उसमें बहुत कुछ हिस्सा उनके उन संस्कारों का है जिनका सम्बन्ध परम्परा से मिली उनकी अपनी सामाजिक सोच से है। भारतीय आर्यशास्त्रानुमोदित व्यवस्था पर उनकी दृढ़ आस्था है जिसके तहत परम्परा से चली आती हुई सामाजिक संरचना और आचार संहिता को वे तनिक भी आहत नहीं देखना चाहते। उनका सारा विवेकवाद उनकी सामाजिक तथा ऐतिहासिक समझ को वह गुणात्मक मोड़ नहीं दे पाता कि वे नये विचारों के आलोक में वेदशास्त्र विहित इस सामाजिक व्यवस्था और आचार संहिता को, उसके समूचे विधि-विधान को उसकी नई वास्तविकता के साथ देख सकें और एक नई सामाजिक सोच के तहत एक बुनियादी बदलाव की माँग कर सकें, उसके लिए सक्रिय हो सकें। उनका विवेक उन्हें इसके लिए उभारता है, परन्तु उसके संस्कार उनके इस उभार को दबाते हुए उन्हें महज इतनी दूर तक जाने देते हैं जहाँ से वे, भले ही, ऊँचे से ऊँचे स्वरों में क्षात्र-धर्म की गुहार लगाते हुए, अन्यायियों और अत्याचारियों की भर्त्सना करते हुए लोकरक्षा का नारा बुलंद करते हुए, अन्यायियों के विनाश को लोक का जरूरी कर्त्तव्य बताते हुए, हमें दिखाई पड़ें (और उनकी सही नीयत पर हमें कतई, किसी प्रकार का संदेह नहीं है)। वस्तुतः वे चली आ रही व्यवस्था में क्रान्तिकारी सुधार चाहने वाले उसे अधिकाधिक न्याय संगत बनाने की सिफारिश करने वाले, एक मानवतावादी ही मालूम पड़ते हैं, इससे अधिक नहीं। इसी नाते कबीर का निर्गुण पंथ एक स्तर पर उन्हें स्वीकार होता हुआ दूसरे स्तर पर समाज में अराजकता फैलानेवाला लगता है और कबीर तथा निर्गुणपंथ के रहस्यवाद के साथ उसकी प्रगतिशील विषयवस्तु तथा प्रगतिशील सामाजिक चेतना को भी वे नकार देते हैं। रूस की

समाजवादी क्रान्ति का मखौल उड़ाते है, साधारण-जनकेन्द्रित वहाँ के साहित्य पर भद्दी टिप्पणी करते हैं, समाजवाद की बात करते हुए और व्यक्तिवाद तथा पूँजीवाद और उपनिवेशवाद के खिलाफ आवाज उठाते हुए भी वैज्ञानिक समाजवाद की अवमानना करते हैं, 1936 मे जन्मे तथा आगे विकास पाने वाले प्रगतिशील आन्दोलन का नाम तक नही लेते, 'विश्व प्रपंच' मे पश्चिम के विज्ञान तथा विज्ञान प्रेरित भौतिकवादियो तथा भौतिकवादीदर्शनो की चर्चा करते हुए भी मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन की चर्चा तक नही करते। इतिहास तथा समाज की वैज्ञानिक समझ से अपने इस जाने-बूझे अपरिचय के नाते ही वे समाज की वर्ग-हकीकत को भी नहीं स्वीकारते, वर्ग संघर्ष के सत्य का साक्षात्कार नहीं करते, अन्ततः अपने नये वैज्ञानिक विवेक को समाज के बुनियादी बदलाव के दर्शन से जोड पाने मे असमर्थ रामराज्य की आदर्श परिकल्पना में ही रम जाते हैं। प्रेमचन्द यही और इस बिन्दु पर उनके साथ काफी दूर तक चलते हुए अलग होते हैं और संस्कार तथा विवेक की कशमकश मे अपनी सामाजिक सोच को एक गुणात्मक परिणति तक पहुँचाकर दूसरी परम्परा की प्रेरणा बन जाते हैं। समाज के वर्ग विभाजन की हकीकत को न मानने के ही नाते शुक्ल जी का लोकमंगलवाद आत्मवादी दर्शन से अलग होता हुआ भी, दूसरी परम्परा के दर्शन से नहीं जुड़ पाता और लोकमानस मे परम्परा से चली आ रही न्याय-अन्याय की, सामान्य धारणा का सूचक भर बनकर रह जाता है। शुक्ल जी के समीक्षा सिद्धान्तो, उनके व्यावहारिक विवेचन और उनके समाज तथा जीवन दर्शन की बहुत सारी असंगतियो का कारण उनकी बुनियादी सामाजिक सोच ही है, जिससे टकराते हुए भी परम्परा का विचार दर्शन एक नये प्रस्थानबिन्दु का निर्देश करता है और उससे जुड़े रचनाकार तथा समीक्षक एक नया रास्ता तय करते हैं। शुक्ल जी के स्वीकार के साथ हमे उनके चिन्तन और लेखक के अस्वीकार वाले इस पक्ष के प्रति भी सजग बने रहना है।

समग्रत: हमने जिसे भाववादी दर्शन से प्रेरित काव्यशास्त्र कहा है और संपूर्ण भारतीय आलोचना जिसके तहत ही विकासशील होती है उसके हिन्दी की आलोचना वाले अंश को ध्यान मे रखें तो सहज ही कह सकते हैं कि हिन्दी आलोचना का सत्व हमें आचार्य शुक्ल के ही आलोचना कर्म मे मिलता है। उनके बाद के आलोचक इस भाववादी काव्यशास्त्र और उससे प्रेरित आलोचना दृष्टि मे, उसका सम्बन्ध सैद्धातिक आलोचना से हो या व्यावहारिक आलोचना मे, कुछ इजाफा जरूर करते हैं; पश्चिम की समान दार्शनिक दृष्टि से प्रेरित साहित्य-सिद्धान्तो की कुछ बातो का समावेश कर के और उन्हें व्यावहारिक समीक्षा मे लागू करके (मसलन आचार्य वाजपेयी की स्वच्छंदतावादी दृष्टि या नगेन्द्र आदि की मनोवैज्ञानिक दृष्टि या और आगे के अज्ञेयवादियो या नई-कवितावादियों की

आधुनिकतावादी दृष्टि या फिर उससे भी आगे शैलीवैज्ञानिकों की मापकीय दृष्टि) शुक्ल जी द्वारा छोड़े गये कुछ अवकाशों को भरते जरूर हैं, उनके मूल्यांकन में परिष्कार-संशोधन करते हैं, उनके पूर्वाग्रहों को रेखांकित करते हुए अपने पूर्वाग्रहों की प्रतिष्ठा करते हैं, ऊपर से नई और ताजी लगनेवाली स्थापनाओं के दावेदार बनकर सामने आते हैं परन्तु कुल मिलाकर आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित शिखरों को लांघ नही पाते, उनसे बड़े कीर्तिमान नहीं बन पाते। वे ऐसे नये मानदण्ड नही दे पाते कि शुक्ल जी के कार्य और उनके मानदण्डों को पृष्ठभूमि में किया जा सके और आलोचना का कोई समग्र और संश्लिष्ट रूप उभर सके और मान्य हो सके। आचार्य वाजपेयी और आचार्य द्विवेदी आलोचना के विश्लेषण और मूल्यांकन तथा खोज और परख के क्षेत्रों में कुछ महत्त्वपूर्ण जोड़ते हैं और रचना की सौन्दर्यात्मक तथा सामाजिक सत्ता का एक साथ मूल्यांकन कर सकने लायक जमीन भी तैयार करते हैं, परन्तु उनके बाद नयों के यहाँ तो बस सब कुछ नया ही नया है, जो उधार ली गयी मान्यताओं और बड़े-बड़े दावों के अलावा किसी रचना का, अपने समय की रचनाशीलता का भी समग्रता में मूल्य आँक पाने में असमर्थ और अक्षम है। जिसे एक समग्र आलोचना दृष्टि कहें वैसा कुछ हमें आचार्य शुक्ल के बाद नहीं दिखाई पड़ता, कारण भाववादी दर्शन प्रेरित काव्यशास्त्र जिस प्रकार प्राचीन रसवादी आचार्यों में उनकी अपनी मेधा के चरम उत्कर्ष को सूचित करता है, उसी प्रकार हिन्दी आलोचना भी आचार्य शुक्ल में अपना चरम उन्मेष ज्ञापित करती है, एक समग्र आलोचना के रूप में, एक समग्र आलोचना शास्त्र के रूप में। हमारा आशय शुक्ल परवर्ती भाववादी आलोचकों और उनके कार्य के महत्त्व को कम करके आँकना नहीं है, परन्तु सच्चाई यही है कि छिटपुट बिन्दुओं पर, कुछेक आयामों पर महत्त्वपूर्ण और मौलिक देते हुए भी शुक्लोत्तर आलोचना का कोई भी आलोचक अकेले या समूह रूप में ऐसा कोई आलोचना शास्त्र या ऐसी कोई आलोचना-दृष्टि नहीं दे सका जिसे रचना की समग्रता को, उसके अन्तर्बाह्य को, उसकी सौन्दर्यसत्ता, भाव-सत्ता तथा विचार सत्ता को उनके स्रोतों के साथ संश्लिष्ट रूप में जाँचने, परखने और मूल्यांकित करने के सिलसिले में मानक कहा जा सके; मिसाल कहा जा सके या फिर विचार तथा व्यवहार की भूमि पर एक व्यवस्थित और मान्य समग्र आलोचना शास्त्र की संज्ञा दी जा सके। हिन्दी आलोचना की शक्ति तथा सीमाओं का प्रतिनिधित्व आज भी आचार्य शुक्ल की अपनी ही आलोचना करती है। काव्य और साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में जो रेखा वे खींच गये हैं उनसे बड़ी रेखा खींचनेवाला कोई दूसरा बड़ा समीक्षक उनकी अपनी जीवनदृष्टि के दायरे से नहीं आया। हमें उस दिन की प्रतीक्षा है जब आचार्य शुक्ल के आलोचना कर्म से भी महत्तर आलोचना कर्म के साथ उनकी ही

जीवनदृष्टि तथा साहित्यदृष्टि का कोई आलोचक सामने आयेगा। आचार्य शुक्ल के आलोचना कर्म की, उनकी साधना की फलश्रुति भी तभी होगी।

तब क्या हिन्दी आलोचना आचार्य शुक्ल जी के बाद उनसे आगे की कोई भी नई राह नहीं खोलती, किसी भी नई मंजिल का संधान नहीं करती? हम कह चुके हैं कि भाववादी दर्शन प्रेरित साहित्य शास्त्र की ऊँचाई को हिन्दी मे आचार्य शुक्ल छू पाते हैं, उसका चरम उन्मेष उनमे ही हमे दिखाई पड़ता है, परन्तु हमने पिछले पृष्ठो मे *आलोचना की एक दूसरी परम्परा* को भी रेखांकित किया है, जो न केवल भाववाद प्रेरित आलोचना दृष्टि के जीवन्त अंश को विरासत के रूप मे स्वीकार करती है, उसकी बुनियाद पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए एक नई दार्शनिक बुनियाद पर साहित्य और जीवन के बारे मे एक नई दृष्टि लेकर सामने आती है, एक नये साहित्य शास्त्र की प्रतिष्ठा करती है। अपनी जमीन के और अपनी जमीन पर विकसित रचनाशीलता के प्राणवान अंशो को आत्मसात् करते हुए विचारो के एक नये आलोक मे ज्ञान-विज्ञान की नई उपलब्धियो से लैस वह साहित्य-समीक्षा के एक समग्र और सश्लिष्ट रूप को अपना लक्ष्य बनाती है, जिसमे न तो साहित्य के सौन्दर्यात्मक मनोवैज्ञानिक पक्ष की उपेक्षा हो और ना ही उसके ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष की तथा जो साहित्य की अपनी स्वायत्त सत्ता को स्वीकार करता हुआ भी उसकी समाज तथा जीवन की सापेक्षता के प्रति प्रतिश्रुत हो, एक बुनियादी सामाजिक बदलाव के संकल्प से दीप्त और उसके लिए सक्रिय विराट् मनुष्यता के अपने संघर्ष मे मनुष्य के सम्पूर्ण सांस्कृतिक कर्मों को व्याख्यायित करें।

आलोचना की इस दूसरी परम्परा का हिन्दी मे बहुत लम्बा इतिहास नहीं है, परन्तु अपने अब तक के विकासक्रम मे, उसका जो और जैसा रूप उभरा है अनेक अपेक्षाओ के होते हुए भी वह चली आती हुई भाववाद-प्रेरित आलोचना दृष्टि तथा आलोचना सिद्धान्तो के समक्ष अपनी खरी और स्पष्ट पहचान बना सका है। आलोचना की इस दूसरी परम्परा से जुड़े आलोचकों की उपलब्धियो का इतनी अल्प अवधि मे एक पूरा-पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु सम्प्रति उसे न प्रस्तुत करते हुए उसके प्रतिनिधि रूप मे डॉ० रामविलास शर्मा के आलोचना कर्म की संक्षिप्त चर्चा हम जरूर करना चाहेंगे। कहना न होगा कि डॉ० रामविलास शर्मा शुक्लोत्तर आलोचना की तमाम हस्तियो के बीच एक-मात्र नाम हैं जिन्हे दूसरी परम्परा के शीर्ष आलोचक के रूप मे हम विश्वास के साथ पहली परम्परा के आचार्य शुक्ल की समकक्षता मे रख सकते हैं और उन पर गर्व कर सकते हैं। शुक्ल जी की विरासत के मूल्यवान् अंशो को सहेजते हुए और उन्हें संवर्धित करते हुए डॉ० शर्मा की आलोचना दृष्टि एक स्तर पर शुक्ल जी की ही भाँति परम्परा से लेकर अपने समय तक की सर्जना को परखती और मूल्यांकित करती है और दूसरे स्तर पर शुक्ल जी से आगे बढ़ते हुए न केवल इस

सर्जना के प्रगतिशील तथा जनवादी मूल्यों को उभारती और प्रतिष्ठित करती है, परम्परा से लेकर अब तक की सर्जना को उसकी निरन्तरता में पहचानती और पेश करती है। यह काम शुक्ल जी ने भी किया था परन्तु डॉ० शर्मा के यहाँ इतिहास की नई और वैज्ञानिक समझ के आलोक में यह हुआ है, फलतः परम्परा और आधुनिक सर्जना के कुछ ऐसे पक्ष और मूल्य उभरे हैं जिन्हें आचार्य शुक्ल अपनी जीवनदृष्टि में बंधे होने के नाते नहीं देख पाये थे या जिनका खुलासा नहीं कर पाये थे। डॉ० शर्मा इस प्रकार शुक्ल जी के कार्य को आगे ही नहीं बढ़ाते, उसे गुणात्मक परिणति तक पहुँचाते हैं साहित्य के सामाजिक तथा भौतिक आधार की सुसंगत और वैज्ञानिक समझ पर आधृत उनकी आलोचना दोनों के बीच के रिश्ते की द्वन्द्वात्मकता को उजागर करते हुए शुक्ल जी की मान्यताओं को तर्क सम्मत नए आयाम देती है। वह परम्परा के मूल्यांकन में पुनरुत्थानवादी विचारों को अमान्य करते हुए परम्परा को आधुनिक चिन्ताओं के तहत प्रासंगिक बनाकर पेश करती है। उनके कार्य का फलक भी शुक्ल जी की ही भांति बहुत विस्तृत है तथा उनका परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों को भी समेटे हुए है। साहित्य समीक्षा के अलावा इतिहास-लेखन और भाषा-विवेचन में भी डॉ० शर्मा का कार्य न केवल महत्त्वपूर्ण और नया है वह मार्गनिर्देशक भी है। सीमाएँ डॉ० शर्मा में भी दृष्टि और उसके विनियोग दोनों आयामों पर हैं, जिनको नोटिस भी हम अपने आगामी निबंध में लेंगे तथा जिनसे टकराते हुए ही हमें दूसरी परम्परा की इस आलोचना-दृष्टि का गुणात्मक विकास करना है, किन्तु यह काम, जैसा हमने कहा, हम अपने आगामी निबंध में करेंगे।

शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, रमेश कुन्तल-मेघ, सुरेन्द्र चौधरी, मैनेजर पाण्डे, कर्णसिंह चौहान जैसे नामों के अलावा पुरानी और नई पीढ़ी के तमाम दूसरे तेजस्वी आलोचकों और मुक्तिबोध जैसे रचनाकार-विचारकों में हिन्दी आलोचना की यह दूसरी परम्परा, इन आलोचकों की दृष्टिगत सीमाओं के बावजूद अपनी गुणात्मक समृद्धि का परिचय देती है। अपने समय में एक जबर्दस्त वैचारिक तैयारी के साथ, विचारधाराओं के संघर्ष में जिस प्रकार शुक्ल जी सलंग्न हुए और रूपवादी, व्यक्तिवादी, कलावादी, रीतिवादी तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों से लोहा लेता हुए आगे आए थे, दूसरी परम्परा के साहित्य-समीक्षक भी अपने समय की प्रतिक्रियावादी, प्रतिगामी विचारधाराओं तथा कलाप्रवृत्तियों के साथ उसी जीवट और वैचारिक तैयारी से जूझते-जूझते, संघर्ष करते हुए हिन्दी आलोचना को साहित्य तथा जीवन के बुनियादी प्रयोजनों से जोड़े हुए हैं। रीतिवाद और रूपवाद का स्वरूप आज पहले से भिन्न है, परन्तु आधुनिकतावाद के नाम पर, नई समीक्षा के नाम पर, पतनशील जीवनदर्शन तथा कलाप्रवृत्तियों का आश्रय लेते हुए रूपवाद और रीतिवाद के नये संस्करणों के हमने

आज पहले से भी ज्यादा तेज हो उठे हैं। बावजूद इसके, आलोचना की यह दूसरी परम्परा शुक्ल जी की विरासत और अपनी खुद की वैचारिक जमीन पर दृढ़ता से पैर रोपे हुए न केवल इन हमलों को निरस्त कर रही है, साहित्य तथा सामाजिक जीवन के रिश्तों को साहित्य की राष्ट्रीय तथा अस्मिता को, साहित्य की साहित्यिकता और उसकी सामाजिकता के तहत नये नये आयामों पर प्रमाणित और पुष्ट कर रही है। इस प्रकार आलोचना की यह दूसरी परम्परा पहली परम्परा के जीवन्त अंश से अपना, मजबूत नाता बनाये हुए दो भिन्न परम्पराओं और दृष्टियों के बीच एक जरूरी सम्बन्ध-सेतु कायम किये हुए है। अवरोध शुक्ल जी के सामने भी थे और आज भी हैं, सीमाएँ शुक्ल जी की भी थी और सीमाएँ तथा अपेक्षाएँ इसकी भी हैं और इसमें भी हैं, परन्तु उनसे निपटने और जूझने का सकल्प और माद्दा भी कम नहीं है।

मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि की बुनियाद पर खड़ी आलोचना की इस दूसरी परम्परा से जुड़े समीक्षकों की अपनी दृष्टिगत सीमाओं, अंतर्विरोधों, उपलब्धियों तथा अपेक्षाओं पर, समकालीन आलोचना-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में हम विस्तृत चर्चा आगामी निबंध में करेंगे।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा के प्रगतिशील सन्दर्भ

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के बाद उन्हीं की परम्परा में, यदि परम्परा का आशय पिछली सरणि का हूबहू अनुवर्तन न माना जाय तो, सच्चे समीक्षक का प्रखर काव्य-विवेक लेकर जो लोग हिन्दी समीक्षा के मंच पर आए उनमें आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी पहली पंक्ति के पहले व्यक्ति हैं। राजनीति की राजनीति की निर्ममता, पक्षपात, नितांत व्यक्तिनिष्ठता तथा अवसरवादिता से जो लोग परिचित हैं वे जानते हैं कि किस प्रकार इन आग्रहों के चलते महत्वपूर्ण से महत्वपूर्ण व्यक्ति के अवदान को किस प्रकार नाचीज करार देते हुए उसे पृष्ठभूमि में फेंक दिया जाता है, किन्तु साहित्य की राजनीति भी राजनीति की इस राजनीति से कम वीभत्स, अवसरवादी व्यक्तिनिष्ठ और कम जुगुप्सामय नहीं है। यहाँ भी बड़े योजनाबद्ध तरीके से, बड़ी ओछी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए महत्वपूर्ण रचनाकारों और विचारकों के मूल्यवान प्रदेय को विरूप और विकृत रूप में पेश करते हुए उसे इतिहास के खाते में डालने का यत्न किया जाता है। किन्तु जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में महामहिम चालबाजों के सारे कुत्सित प्रयासों के बावजूद निष्ठावान लोगों का कर्तव्य साधारण जन के बीच सदैव सम्मान का विषय बना रहता है उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में चलने वाली कुत्सित गतिविधियों के बीच भी सच्चे रचनाकार या विचारक की छवि प्रबुद्ध पाठक समाज के बीच बराबर सम्मान्य और सजीव बनी रहती है। हम यह सब न लिखते यदि हमें इस बात का गहरा अहसास न होता कि पिछले एक दशक के भीतर एक गहरी साजिश के तहत आधुनिक समीक्षा के एक कृती हस्ताक्षर, आचार्य शुक्ल के बाद समीक्षक की सही प्रतिभा लेकर सामने आने वाले, हिन्दी पाठक समाज को छायावाद नाम की काव्य प्रवृत्ति की सर्वप्रथम सबसे सही और प्रमाणिक पहचान देने वाले तथा तमाम प्रकार के अर्थहीन किन्तु प्रबल हमलों से उसकी रक्षा करते हुए उसके पक्ष में एक योद्धा की तरह संघर्ष करने वाले और उसे आरोपों के जाल से बाहर निकाल कर युग की सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने वाले आचार्य

नन्ददुलारे वाजपेयी के इस महत्वपूर्ण अवदान को नकारते हुए उसे विरूप करके प्रस्तुत करते हुए उन्हें आधुनिक समीक्षकों की प्रथम पंक्ति से, आचार्य शुक्ल के तत्काल बाद के गरिमामय स्थान से हटाने और पृष्ठभूमि में डालने का निन्दनीय और घटिया प्रयास न किया जाता। यही नहीं, शुक्ल जी की प्रगतिशील परम्परा के इस उन्नायक को, उनकी चिन्ताओं के इस निर्भीक धारक को प्रगति-विरोधी करार देते हुए प्रतिक्रियावादियों के खेमे में परिगणित करने की घटिया कोशिश न की गई होती। समीक्षा के क्षेत्र में कुछ लोग आज जानबूझकर आचार्य शुक्ल के उपरान्त आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा, यहाँ तक कि डा० नगेन्द्र का नाम लेकर नन्ददुलारे वाजपेयी के नाम को जिस प्रकार समीक्षा के नक्शे से मिटा देने की असफल कोशिश कर रहे हैं, उसे देखकर क्षोभ भी होता है और न्यस्त स्वार्थों पर दया आती है। जाहिर है कि इतिहास व्यक्ति-विशेष या कुछेक व्यक्तियों के अपने पूर्वाग्रहों से नहीं बनता या विश्लेषित होता है, उस पर अंकित हुए निशान भी लोगों की अपनी इच्छाओं से नहीं अंकित होते या मिटते। उसकी लिखावट समय और समय-विशेष की स्थितियों में अपने आप उभरती और लिखी जाती है और इसीलिए जब पूर्वाग्रहों का घटाटोप कभी-कभी इस लिखावट को ढकने का प्रयास करता है, जरूरत होती है कि सच्चाई को सामने रखते हुए पूर्वाग्रहों के इस घटाटोप को चीरकर इतिहास की इबारत को फिर से चमका दिया जाय। आचार्य वाजपेयी पर लिखने का संप्रति यही उद्देश्य है कि उनके कृतित्व और उनके अवदान की अनदेखी करने वालों को, उन्हें प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी करार देने वाले लोगों के आग्रहों को परखते हुए वाजपेयी जी के अपने योगदान का वस्तुनिष्ठ तरीके से खुलासा हो ताकि किसी भी प्रबुद्ध तथा पूर्वाग्रह रहित मानस को उनके बारे में वास्तविक राय बना सकने में सुविधा हो। ऐसा इसलिए भी जरूरी है ताकि हम आधुनिक समीक्षा के नक्शे में अपने निजी अधिकारों के साथ और अपने निजी कृतित्व के तहत उभरने वाले बिन्दुओं को मनमाने तरीके से स्थानान्तरित कर नक्शे को अप्रामाणिक विरूप और भद्दा करने वालों को सावधान भी कर सकें, उन्हें वस्तुनिष्ठ होने तथा अपने पूर्वाग्रहों पर पुनर्विचार करने का अवसर भी दे सकें। यह सब करते हुए हमारा प्रयास होगा कि पहले अपने तईं हम वस्तुनिष्ठ रहें और अपने विवेचन में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के समीक्षा कर्म को और उसके पीछे निहित उनकी समीक्षा-दृष्टि को, उसकी शक्ति के अलावा उसकी सीमाओं के साथ भी पहचानें और पेश करें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम भी साहित्य की कुत्सित राजनीति में शिरकत करने वाले ही माने जाएंगे। अस्तु—

हिन्दी समीक्षा के मंच पर आचार्य वाजपेयी का उदय नई छायावादी कविता के व्याख्याता और सिद्धान्तविद् के रूप में उस समय हुआ जबकि वह नाना प्रकार

के प्रवादों और अभियोग का लक्ष्य बनी हुई थी और हिन्दी समीक्षा के मूर्धन्य आचार्य भी उसकी नई अंतर्वस्तु तथा अभिव्यंजना शैली से अपनी मानसिक संगति नहीं बिठा सके थे। उसे अनगढ़, अबूझ, अस्पष्ट, दुर्बोध, ऊटपटांग कहते हुए उसे अभारतीय और पश्चिम की नकल मात्र घोषित कर रहे थे। यह वह समय था जबकि छायावाद के विरोधियों की संख्या काफी अधिक थी और उसके समर्थकों की बहुत कम। मूलवर्ती सवाल इस नई काव्य प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा का था, हिन्दी के वृहतर पाठक समाज के बीच और हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के बीच और जैसा कि डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है, हिन्दी के वृहतर पाठक समाज के बीच छायावादी कविता की प्रतिष्ठा के लिए चल रहे संघर्ष के अगुआ थे निराला और विश्वविद्यालयों के भीतर उसके पाठ्यक्रम में छायावादी कविता के पक्ष में चल रही लड़ाई का नेतृत्व कर रहे थे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी। जाहिरा तौर पर इस संघर्ष के क्रम में आचार्य वाजपेयी को, जो उस समय एक उदीयमान समीक्षक भर थे अन्य अनेक बुजुर्ग पूर्ववर्तियों के साथ अपने गुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भी सीधी टक्कर लेनी पड़ी थी। इस बात का प्रमाण आचार्य शुक्ल पर उनके जीवन काल में ही लिखे गए उनके दो निबंध हैं, जिनमें आचार्य शुक्ल के समीक्षादर्शों पर कदाचित सबसे कठोर प्रहार करते हुए उन्होंने कहा था कि "आचार्य शुक्ल हिन्दी समीक्षा के बालारुण हैं, किन्तु अब दिन चढ़ चुका है और नए प्रकाश तथा नई ऊष्मा का अनुभव हिन्दी साहित्य-समीक्षा कर रही है।" छायावादी कविता का पक्ष लेते हुए संघर्ष के इस दौर में आचार्य वाजपेयी ने न केवल विश्वविद्यालय के भीतर वरन् बाहर भी सक्रिय रहते हुए इस नई काव्य प्रवृत्ति के बारे में फैले और फैलाए जाने वाले प्रवादों का खण्डन किया। उन्होंने न केवल छायावाद के विरोधियों की छायावाद-सम्बन्धी अतर्कत व्याख्याओं का प्रतिवाद किया, छायावादी कविता के उन अति प्रशंसकों की भावुकता भरी उक्तियों की भी खिलाफत की, जो छायावाद की व्याख्या ऐसी अनिर्वचनीय शब्दावली में कर रहे थे मानो वह कविता न होकर कोई आकाश-कुसुम सम दैवी उपहार हो। 'माधुरी' पत्रिका में प्रकाशित सं० 1986 के अपने एक निबंध में, जो वाजपेयी जी की किसी भी समीक्षा-पुस्तक में संकलित नहीं है, पुराने आचार्यों के छायावाद-विरोधी तर्कों का जवाब देते हुए उन्होंने रामनाथलाल सुमन के छायावाद-समर्थन की भी आलोचना की है और छायावाद की इस नई काव्य प्रवृत्ति का सम्बन्ध मूलतः भारतीय नव जागरण की चेतना, भारतेन्दु बाबू और भारतेन्दु युग के नव जागृत विवेक, कहना चाहिए हिन्दी कविता की अपनी परम्परा तथा विवेक चेतना से जोड़ा है और उसे इलहाम की कविता अथवा आकाश-कुसुम के रूप में व्याख्यायित न करते हुए मानवीय अनुभूतियों की, युग की जाग्रत आकांक्षाओं की अंतर्वस्तु और अभिव्यक्ति के नए संस्कारों की कविता के रूप में व्याख्यायित किया

है। इसी निबंध में उन्होंने फ्रांस की प्रसिद्ध सन् 1789 की राज्य-क्रांति और उसके आदर्शों का भी उल्लेख किया है और प्रकारांतर से इस कविता को प्रजातन्त्र की, नई स्वातंत्र्य चेतना की, सामंतवाद-विरोध की कविता के रूप में भी समझने और समझाने की चेष्टा की है, उनका यह निबंध छायावादी कविता को उसके सही ऐतिहासिक तथा सामाजिक संदर्भों में प्रस्तुत करता है तथा छायावादी कविता पर लग रहे तमाम आरोपों का प्रतिवाद करते हुए पहली बार छायावाद को अपनी जमीन से उगी कविता के रूप में मान्यता देता है। इस निबंध में वाजपेयी जी ने छायावादी कविता की नई अंतर्वस्तु तथा अभिव्यंजना शैली की विशेषताएँ बताते हुए उसके कुछ कमजोर पक्षों की आलोचना भी की है, उसे रहस्यवाद की ओर उन्मुख करने वाले रचनाकारों को सावधान किया है तथा शुक्ल जी की परम्परा में ही उसे बेलबूटे और नक्काशी की कविता न बनने की सलाह दी है। सन् 1929 या सं० 1986 का यह निबंध इस प्रकार आचार्य वाजपेयी की छायावाद-विषयक साफ समझ का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है तथा उनके दूसरे तमाम निबंधों और व्याख्याओं के साथ उन्हें एक ऐसे समीक्षक के रूप में पेश करता है जिसने छायावाद के रचनाकारों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाते हुए इस नई काव्य प्रवृत्ति के लिए संघर्ष करते हुए उसे हिन्दी कविता के मंच पर नए युग की ऐतिहासिक आकांक्षाओं की कविता के रूप में मान्यता दिलाई, उस पर लगाए गए अनर्गल आरोपों का प्रतिकार करते हुए उसे अपनी जमीन की कविता तथा समय की जरूरत के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य वाजपेयी का छायावाद की प्रतिष्ठा के लिए किया जाने वाला यह संघर्ष किसी मायने में उसके पहली पंक्ति के रचनाकारों के अपने संघर्ष से कम नहीं है और उन्हें निराला, प्रसाद और पंत के समकक्ष स्थान का अधिकारी बनाता है। आचार्य वाजपेयी के प्रगतिशील और जाग्रत काव्य विवेक, तत्कालीन संदर्भों में उनकी अग्रगामी सामाजिक सोच तथा उनके महत्त्वपूर्ण कार्य का यह नितांत जायज निष्कर्ष है। वे छायावाद के पहले प्रामाणिक व्याख्याता हैं, उसके सामाजिक सांस्कृतिक आशय के पहले सशक्त प्रस्तोता हैं। यह उनके कर्तृत्व का पहला सशक्त प्रगतिशील संदर्भ है।

एक समीक्षक के रूप में आचार्य वाजपेयी को सौष्ठववादी, स्वच्छन्दतावादी, समन्वयवादी, प्रतिक्रियावादी, शुक्ल परम्परा का विरोधी, उसका सशक्त उत्तराधिकारी, न जाने क्या-क्या कहा गया है। परम्परा विरोधी इन निष्कर्षों का मूल आचार्य वाजपेयी का अपना काव्य चिन्तन, उनके अपने समीक्षादर्श हैं, जिनमें अंतर्विरोध भी है और उनके बीच होने वाला विकास भी। वाजपेयी जी के चिन्तन के अंतर्विरोधों पर ही दृष्टि केन्द्रित करते हुए, परन्तु उनके फलस्वरूप होने वाले विकास को कतई नजरंदाज करते हुए जब उनके समीक्षक पर रायजनी की जाती है तो अधूरे, एकांगी और गलत निष्कर्षों का सामने आना लाजिमी है। हिन्दी समीक्षा

के क्षेत्र में आचार्य वाजपेयी पर रायजनी करने वालों का एक वर्ग प्रायः इस एकागिता का शिकार हुआ है। एक दूसरे प्रकार की एकागिता भी वाजपेयी जी के समीक्षक-रूप के मूल्यांकन मे बहुत उभर कर सामने आई है और उसका संबध वाजपेयी जी के समीक्षा कर्म को उसकी समग्रता मे, उसके विकासशील रूप मे न लेकर एक विशेष दौर पर ही केन्द्रित करने और उसी के आधार पर समग्र के बारे में रायजनी करने से है। यह एक नितात अवैज्ञानिक और नितात गलत समझ है। एक तीसरे प्रकार की एकागिता आचार्य वाजपेयी और उनके चिन्तन की अपनी जमीन को कतई नजरंदाज कर अपनी खुद की सोच और मानसिकता के तहत उनमे वह सब पाने और देखने की इच्छा के रूप मे सामने आई है जो उनके अपने चिन्तन के, उनके अपने सस्कारो के सदर्भ मे, उस रूप मे संभव ही नही था, जिस रूप में हम उसमे उसे पाते और देखना चाहते हैं। यह एक रचनाकार और विचारक की अपनी अस्मिता और इयत्ता का अस्वीकार है। इन एकागिताओ के चलते ही वाजपेयी जी का मूल्याकन जिस वस्तुनिष्ठ तरीके से होना चाहिए था, नही हो सका है। मसलन बहु प्रचारित वाजपेयी जी के तथाकथित प्रेमचन्द-विरोध को ही लें।

'हंस' के आत्मकथाक को लेकर वाजपेयी जी और प्रेमचन्द जी में जो विवाद चला उससे सब परिचित हैं। यह विवाद एक उभरते हुए युवा सौन्दर्यवादी और आदर्शवादी समीक्षक का हिन्दी के मूर्धन्य उपन्यासकार के साथ हुआ विवाद था। जैसा कि प्रेमचन्द पर वाजपेयी जी की लिखी हुई पुस्तक का संपादन करते हुए हमने स पादकीय भूमिका मे लिखा है, यह विवाद दो विपरीत मानसिकताओं का विवाद था। एक ओर प्रेमचन्द थे जो दुनिया देख चुके थे। सच को झूठ और झूठ को सच मे बदल देने वाली यथार्थ की इस दुनिया से टकराते हुए अपने आदर्श-वाद को पीछे छोड हकीकतों के ठोस संसार मे प्रवेश कर चुके थे। दूसरी ओर वाजपेयी जी थे जो रवीन्द्रनाथ, महात्मा गांधी, शैली, कीट्स और दूसरे तमाम आदर्शवादियो और सौन्दर्यवादियों के आदर्शों और स्वप्नो के संसार को अपनी आँखो मे बसाए, दुनिया को बड़ी सरल रेखाओ मे जानने और समझने की मान-सिकता मे जी और रम रहे थे। एक परिपक्व आयु का, दुनिया की तिकड़मबाजी के दश को काफी कुछ भोग चुकने वाला तथा जमाने की रग-रग से वाकिफ लेखक था, दूसरा नई उम्र का एक ऐसा तरुण जिसे काफी कुछ देखना और भोगना था। दोनों की जीवन दृष्टि और मान्यताओं मे बहुत अंतर था। फिर परिपक्व उम्र के हिन्दी के मूर्धन्य कथाकार से टक्कर लेने और उसे चुनौती देने का अपना एक रोमानी आकर्षण और सुख भी था, वाजपेयी जी ने निस्सदेह प्रेमचन्द के विचारों और उनके साहित्य पर कठोर टिप्पणियां की, उनके साहित्य को प्रचारवादी कहा, सतही कहा और प्रेमचन्द जी ने भी एक बुजुर्ग के सात्विक गुस्से मे भरकर काफी

कुछ खरी-खोटी वाजपेयी जी को सुनाई, उन्हे काफी कुछ नसीहतें दी। विवाद अन्ततः समाप्त हुआ। दोनों एक-दूसरे की प्रतिभा से वाकिफ थे, अतएव कटुता को भूलकर मित्र बन गए, आपस मे हाथ मिलाए। प्रेमचन्द जी ने अपने व्यवहार से वाजपेयी जी को अपने बडप्पन का अहसास करा दिया और वाजपेयी जी ने उनके बडप्पन का आदर करते हुए उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया।

किन्तु विडंबना यह कि वाजपेयी जी और प्रेमचन्द के सन् 1931 के इस विवाद को इतना अहम मान लिया गया कि उसी के आधार पर वाजपेयी जी हमेशा-हमेशा के लिए प्रेमचन्द के विरोधी ही नही, प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी भी करार दे दिए गए। स्मरण रहे कि जिस समय वाजपेयी जी और प्रेमचन्द मे यह विवाद छिडा था प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' जैसी कृतियाँ सामने नही आई थी। यह भी स्मरण रहे कि यह वाजपेयी जी के समीक्षक रूप का उदय काल था और इसके बाद अपनी मृत्यु अर्थात सन् 1968 तक उन्होंने प्रेमचन्द के बारे मे और भी बहुत कुछ लिखा। चालीस वर्ष का समय किसी की रचनात्मक और विचारात्मक दिशाओं के विकास के लिए थोड़ा समय नही होता। इतने वर्षों की अवधि मे कोई सच्ची प्रतिभा एक ही जगह ठहर कर नही रह जाया करती, वह विकसित होती है और गुणात्मक रूप से विकसित होती है। किसी रचनाकार-विचारक की समूची छवि को नए अन्दाज मे सामने लाने मे इतना समय बहुत अधिक हुआ करता है। हमारे कहने का आशय यहाँ यह है कि 1931 मे वाजपेयी जी ने एक विवाद के चलते प्रेमचन्द और उनके साहित्य के बारे मे जो कुछ कहा उसे अंतिम सत्य मानकर उसके बाद के दसियो वर्षों मे प्रेमचन्द पर ही कही गई उनकी बातो को कतई भुला देना, स्वतः वाजपेयी जी की स्पष्ट स्वीकारोक्तियो को नजरंदाज करना और पुराने बिन्दु पर ही हठ के साथ खडे रहकर पुरानी बातों की ही लीक पीटकर उन्हें प्रेमचन्द-विरोधी कहना या कि प्रतिक्रियावादी कहना क्या परले दर्जे का अतिवाद या परले दर्जे की ओछी मानसिकता नही है। समीक्षा मे वैज्ञानिक दृष्टि के हामियों को इस पर जरूर विचार करना चाहिए कि क्या समग्रता को भुलाकर महज एक अंश को ही मद्देनजर रखकर समूचे पर राय-जनी करना, क्या अवैज्ञानिक मानसिकता और अपरिपक्व दृष्टिकोण का इज्हार नही है ? इस तरह से तो प्रेमचन्द को भी देखा जाय तो अपने प्रारंभिक कृतित्व के आधार पर वे पहले दरजे के आदर्शवादी और समन्वयवादी सिद्ध होंगे। प्रेमचन्द को आदर्शवादी साबित करने वालो से तो हम तर्क करें कि प्रेमचन्द को समग्रता मे, उनकी आखिरी किताब तक पढकर ही निर्णय लिए जाएँ किन्तु वाजपेयी जी को समग्रता मे न देखकर हम उनकी प्रारंभिक उक्तियो को ही अन्तिम निर्णय का आधार मानें, क्या यह अंतर्विरोध नहीं है ? क्या यह बदनीयती नहीं है ? इस बात का निर्णय हम हिन्दी के प्रबुद्ध पाठक समाज पर छोड़ते हैं।

समर्थ रचना किस प्रकार आलोचक के सामने चुनौती फेंकती है, अपने से मुखातिब करती है, और पूर्वाग्रही आलोचक को 'एक्सपोज' करती है, इसे साबित करने की जरूरत नहीं है। सच्चे समीक्षक को विकासशील प्रतिभा नए कदम रखने के क्रम में आत्मालोचन भी करती है। औरों की बात तो हम नहीं कह सकते, किन्तु वाजपेयी जी हिन्दी के उन समीक्षकों में हैं जिन्होंने अपनी हर अगली कृति में अपनी पूर्ववर्ती कृति और अपने पूर्ववर्ती विचारों का जायजा लिया है तथा नए तथ्यों के प्रकाश में अपनी मान्यताओं में संशोधन किया है, अपने निष्कर्षों के अधूरे-पन को स्वीकार किया है। प्रेमचन्द के साथ होने वाला उनका विवाद उनकी पहली समीक्षा पुस्तक 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में प्रकाशित हुआ है। उसके उपरान्त वाजपेयी जी की दूसरी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' सामने आती है जिसकी भूमिका में वे अपनी पहली किताब का जायजा लेते हैं। इस भूमिका में प्रेमचन्द के बारे में उनकी यह स्वीकारोक्ति देखिए— "अपनी पहली पुस्तक में प्रेमचन्द पर लिखते हुए मैंने कई बातों की शिकायत की थी।" परन्तु उनमें एक सबल पक्ष भी है—अत्यधिक सबल पक्ष—यह मुझे कुछ समय बाद आभासित हुआ। उनका सबल पक्ष है, भारतीय परिस्थितियों और विशेषकर भारतीय ग्रामों का उनका विशाल अनुभव और उससे भी बढ़कर ग्रामीण जन समाज के प्रति उनकी अपार सहानुभूति" आदि-आदि। महज इतना ही नहीं, प्रेम-चन्द के बारे में आचार्य वाजपेयी के दृष्टिकोण में आगे चलकर और भी परिवर्तन होता है और वे प्रेमचन्द को विश्व स्तर के कथाकार के रूप में मान्यता देते हैं। प्रेमचन्द की शक्ति को वे अनेक आयामों पर पहचानते हैं और उसे पेश करते हैं। अब उनके प्रेमचन्द के इस सारे मूल्यांकन को नजरंदाज कर यदि 'हंस' के आत्म-कथांक पर होने वाले विवाद पर ही केन्द्रित होकर उन्हें प्रेमचन्द-विरोधी करार दिया जाता है, प्रतिगामी कहा जाता है, तो इसके बारे में क्या कहा जा सकता है? बहरहाल प्रेमचन्द-सम्बन्धी मूल्यांकन का यह मुद्दा वाजपेयी जी के सम्बन्ध में जब तब उठाया जाता है, इसी हेतु इस पर हमने विस्तार से कुछ कहने की जरूरत समझी। प्रेमचन्द के बारे में वाजपेयी जी का एक महत्वपूर्ण परवर्ती वक्तव्य उद्धृत कर हम इस चर्चा का समापन करेंगे। प्रेमचन्द के बारे में लिखते हुए वाजपेयी जी ने राष्ट्रीय साहित्य शीर्षक अपने निबंध में कहा है—

'कथा साहित्य के क्षेत्र में विश्व के बड़े साहित्यिकों में परिगणित होने के योग्य हमारे प्रेमचन्द हैं।—प्रेमचन्द के उपन्यास ग्राम्य जीवन के घनिष्ठ परिचय से आलोकित हैं। ग्राम्य जीवन की जो आत्मीय और प्राणमयी झांकियाँ उन्होंने उपस्थित की हैं वे हिन्दी उपन्यास में अत्यत दुर्लभ हैं। मनुष्य की स्वीकृति में वे अबाध प्रतीत होते हैं, और उनकी कृतियाँ मनुष्य के प्रति नैसर्गिक प्रेम और अपार प्रेम की भावना से वैशिष्ट्यवान हैं। राष्ट्रीय भावना को नई शक्ति के

उन्मेष के युग मे देशव्यापी स्फूर्ति, भावना-प्रेरित कर्तव्य-निष्ठा, और उत्साह के वे प्रत्यक्ष अनुभोक्ता तथा कलात्मक माध्यम मे सफल प्रयोक्ता थे। उस युग की उमंग तरंगित और अबाध विकसमान राष्ट्रीय चेतना की जीवनी उनकी कृतियों मे अक्षत लिपिबद्ध है। व्यक्तिगत वैशिष्ट्य में उन्हे कोई रूचि नही थी किन्तु राष्ट्र अभिनव यौवनोन्मेष के द्वार पर जिस नए व्यक्तित्व की अभ्यर्थना कर रहा था उसके वे गौरवान्वित अनुगायक थे। उनकी यह शक्ति उनकी कला मे जीवनी-शक्ति के रूप मे प्रतिभासित होती है और वह उनकी कृतियो को सामान्य वस्तु-लेखन की कोटि से ऊपर उठा देती है।"

प्रेमचन्द के बारे मे वाजपेयी जी के ये विचार उनके प्रौढ़ावस्था के परिपक्व चिन्तन का फल हैं. प्रेमचन्द पर उनकी मान्यताएँ गुणात्मक रूप से बदली हैं इसका प्रमाण प्रेमचन्द पर हुआ उनका सारा परवर्ती लेखन है। फिर हमे यह भी सोचना चहिए कि आखिर हम वाजपेयी जी मे प्रेमचन्द के बारे में वही सब पाने की आशा क्यो करें, जो कि हम चाहते हैं। वाजपेयी जी की अपनी चिन्तन-भूमि को हम इस प्रकार कतई नजरदाज क्यों करें ? देखने की बात यह कि वाजपेयी जी प्रेमचन्द के बारे मे अन्ततः कोई वस्तुनिष्ठ राय बना सके या नहीं और जैसा कि हमने देखा, उन्होंने प्रेमचन्द के सबल पक्षो को भी अपने परवर्ती लेखन मे रेखांकित किया, यह उनकी समीक्षा का एक दूसरा प्रगतिशील संदर्भ है।

वाजपेयी जो हिन्दी समीक्षा मे मुख्यतः छायावाद के समीक्षक के रूप मे ख्यात है। निस्सदेह उन्होने नई छायावादी कविता को प्रामाणिक रूप से एक ऐसे समय मे व्याख्यायित किया जबकि वह कठोर आक्रमण का लक्ष्य बनी थी। किन्तु छाया-वाद के अपने अंतर्विरोध भी हैं और इन्हीं के चलते वाजपेयी जी उसे चाहकर भी हर आयाम पर 'डिफेन्ड' नही कर सके हैं, और यदि उन्होंने ऐसा करने का प्रयास किया है तो वे स्वत: अर्तविरोध का शिकार बने हैं, मसलन छायावाद का रहस्य-वाद यदि प्रसाद और निराला के संदर्भ मे सही है तो उसे महादेवी के सदर्भ में भी सही होना चाहिए, किन्तु वाजपेयी जी निराला और प्रसाद के रहस्यवाद को 'डिफेन्ड' करते हैं, किन्तु महादेवी के रहस्यवाद की आलोचना करते हैं। प्रसाद और निराला की कविता रहस्यवाद के बावजूद मानवीय जीवन की अनुभूति से भी नाता बनाए रहती है, यह कहकर ही उनके रहस्यवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता। रहस्यवाद यदि आज की वैज्ञानिक मानसिकता के लिए काव्य-बाह्य है तो उसे ऐसा हर जगह होना चाहिए, प्रसाद मे भी, निराला मे भी और महादेवी मे भी। प्रसाद तथा निराला के काव्य से अपने निजी लगाव के नाते वाजपेयी जी यह कहने मे हिचकिचाते हैं कि उनकी कविता का सबसे कमजोर पक्ष यह रहस्य-वाद ही है। इसे हम वाजपेयी जी के चिन्तन का अर्तविरोध ही मानेंगे, यहाँ वे वस्तुनिष्ठ नहीं है। महादेवी के रहस्यवाद के बारे मे उठाया गया उनका सवाल

जितना महादेवी के बारे में जायज है, उतना ही निराला, प्रसाद, पंत या आज के किसी भी कवि की कविता के बारे में। हम यहाँ उनके विचारों और उनकी प्रश्नाकुलता के साथ हैं और इसे उनकी समीक्षादृष्टि का प्रगतिशील सदर्भ मानते हैं। महादेवी के काव्य के बारे में वाजपेयी जी का मूलभूत सवाल यह है—

"यद्यपि महादेवी जी छायावादी परम्परा को ही लेकर आगे बढ़ीं पर वे क्रमशः प्रसाद, निराला और पंत की सामाजिक पृष्ठभूमि पर की गई लोक-रचनाओं से दूर होती गई, अंत में अब वे अपने काव्य को अत्यंत वैयक्तिक सीमाभूमि पर ले जाने में समर्थ हुई हैं। प्रश्न किया जाता है कि ऐसे कवि और उसकी रचना का सामाजिक-साहित्यिक महत्व क्या है जो समाज की वास्तविक और प्रगतिशील चेतना से इतनी दूर चली गई हो। महादेवी जी के काव्य की हम यहाँ इस साहित्यिक प्रश्न की ओर विचारशील पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर ही संतोष करेंगे। संक्षेप में प्रश्न यह है कि साहित्यिक रचना का एकदम स्वतंत्र मूल्य है अथवा उसका मूल्य उसके सामाजिक सपर्क और प्रभाव में है और यदि साहित्य सामाजिक और वास्तविक जीवन स्रोत से अपना रस ग्रहण करना छोड़ देता है तब केवल कल्पना या वैयक्तिक सवेदना की भूमि पर की गई रचना का साहित्यिक सामाजिक अथवा सास्कृतिक मूल्य किस प्रकार आंका जाय?"

वाजपेयी जी के उपर्युक्त कथन में निहित सामाजिक पृष्ठभूमि पर की गई रचनाओं के महत्त्व के बारे में उनके विचारों, साहित्य के समाज की वास्तविक और प्रगतिशील सोच से जुड़े रहने के उनके आग्रह, साहित्यिक रचना के स्वतंत्र मूल्य को अमान्य करते हुए उसका मूल्य उसके सामाजिक संपर्क और प्रभाव में देखने वाली उनकी दृष्टि तथा साहित्यिक रचना के सामाजिक और वास्तविक जीवन स्रोत से ही अपना रस ग्रहण करने के उनके स्पष्ट मंतव्य, जैसी बातों पर हम इसलिए लोगों का, विशेषकर उन लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं *जिन्होंने वाजपेयी जी की स्वस्थ, प्रगतिशील साहित्यिक समझ पर प्रश्नचिह्न* लगाते हुए उन्हें प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी सोच का समीक्षक कहा है, ताकि वे अपने तई स्वतः देखें और समझें कि साहित्य और कविता की अपनी रचना-भूमि के बारे में, उनके सामाजिक प्रभाव के बारे में, वाजपेयी जी की ये मान्यताएँ क्या सचमुच प्रगति विरोधी हैं? जो अपने को प्रगतिशील दृष्टि का दावेदार कहते हैं, क्या कविता के बारे में, उसकी रचना और प्रभाव के बारे में उनके विचार वाजपेयी जी के विचारों से भिन्न हैं? अतएव हम पुनः जोर देकर कहते हैं कि किसी रचनाकार या विचारक के बारे में कोई भी रायजनी करने के पहले जरूरी है कि उसे समग्रता में, पूर्वाग्रह रहित मस्तिष्क से देखा जाय अन्यथा उस रचनाकार या विचारक से ज्यादा फतवा देने वाला ही 'एक्सपोज' हो जाता है। रहा अंतर्विरोधों का सवाल, वे तो किसी भी रचनाकार-विचारक में होते हैं। सवाल अंतर्विरोधों के

बीच से उसकी मूलवर्ती विचार दृष्टि, उसकी मूलवर्ती चेतना को पकड़ने का होता है।

आचार्य वाजपेयी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तमाम मान्यताओं का जबर्दस्त खंडन किया है, तब क्या इस नाते वे प्रतिक्रियावादी या प्रतिगामी हैं ? थोड़ी देर के लिए हम इस चर्चा मे प्रवेश करें। आचार्य शुक्ल पर वाजपेयी जी ने विशेष रूप से तीन निबध लिखे हैं, दो उनके जीवन काल मे और तीसरा सभवत: उनकी मृत्यु के बाद। शुक्ल जी के जीवन काल मे लिखे गये निबधो का स्वर बहुत तीखा और कठोर है। ये निबंध उनकी 'हिन्दी साहित्य . बीसवी शताब्दी' पुस्तक मे संग्रहीत है, इनके अलावा वाजपेयी जी की 'नया साहित्य . नए प्रश्न' शीर्षक पुस्तक के परिशिष्ट मे एक निबध 'बुद्धिवाद: अधूरी जीवन दृष्टि' नाम से है, जिसमे शुक्ल जी का नाम न लेते हुए भी बुद्धिवाद पर जो कठोर आक्रमण वाजपेयी जी ने किया है वह प्रकारान्तर से शुक्ल जी को ध्यान मे रखकर ही किया गया है। नई छायावादी कविता के पक्षधर होने के नाते वाजपेयी जी ने स्वभावत: इसलिए शुक्ल जी की मान्यताओं का विरोध किया है कि उनके अनुसार शुक्ल जी की मान्यताओ को केन्द्र मे रखकर छायावादी कविता के सौन्दर्य का उद्‌घाटन नही हो सकता। शुक्ल जी जिस रसवाद के हामी हैं और उसके लिए जिसे भरे पूरे विभाव पक्ष की आवश्यकता होती है वह आधुनिक युग की प्रगीत कविता मे सभव नही है, अतएव शुक्ल जी के प्रतिमान उसके लिए सर्वथा अप्रासगिक हैं। वे यदि उपयोगी हैं तो आख्यानक कविता के लिए। इसके अलावा वाजपेयी जी ने इस तथाकथित रसवाद की और भी सीमाओ का जिक्र करते हुए शुक्ल जी के अलंकारवाद के विरोध को निस्सार बताया है, कारण वाजपेयी जी के अनुसार यह रसवाद अलंकारवाद से गहरी गठजोड़ किए हुए है। शुक्ल जी के छायावाद और रहस्यवाद-विरोध को भी वाजपेयी जी ने अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है और छायावाद के साथ-साथ उन्होने रहस्यवाद का भी समर्थन किया है, और शुक्ल जी के विपरीत, अंग्रेजी के वड्‌र्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि कवियो को रहस्यवाद से जुड़ा हुआ कहा है। आचार्य शुक्ल के नीतिवाद तथा मर्यादावाद से भी उन्हे चिढ है और सबसे अधिक आपत्ति इस बात को लेकर है कि शुक्ल जी ने पहले से ही निर्धारित दार्शनिक, नैतिक तथा दूसरे गैर-साहित्यिक प्रतिमानो के चौखटे मे काव्य या कला को बाँधकर उनका परीक्षण किया है। वाजपेयी जी के अनुसार कला की कोई सीमा नही बाँधी जा सकती, उसका सौन्दर्य सारी सीमाओं के परे चला जाता है। गोस्वामी तुलसीदास की आलोचना करते हुए शुक्ल जी ने जिस लोकधर्म की चर्चा की है उसकी भी वाजपेयी जी ने कटु आलोचना की है और शुक्ल जी द्वारा निर्धारित प्रवृत्ति और निवृत्ति की सीमाओं को सतही कहा है। शुक्ल जी के व्यवहार पक्ष के सौन्दर्य पर भी उन्होने प्रश्न चिह्न लगाए हैं। कहते

का मतलब यह है कि अपने तईं वाजपेयी जी ने शुक्ल जी के समीक्षा के दोनों प्रधान आधार-स्तंभो, रस और लोकमंगल, पर प्रहार किया है तथा उनकी दार्शनिक तथा नैतिक जमीन का कच्चापन दिखाते हुए उनके समीक्षादर्शों को नए युग की कविता के लिए, प्रगीत कविता के लिए, अव्यावहारिक निरूपित किया है।

यहाँ यह स्मरण रहे कि आचार्य वाजपेयी की आचार्य शुक्ल के बारे में की गई इस आलोचना का सम्बन्ध सन् 1940 तक के समय की वाजपेयी जी की विचारधारा से है। शुक्ल जी पर उनके एक अत्यन्त कठोर निबन्ध का समय तो सन् 1931 में है। नये युग के नये काव्य की अपनी रचना भूमि का वाजपेयी जी का विश्लेषण जरूर अधिक गहरी समझ का सूचक है और प्रगीत कविता के मूल्यांकन में शुक्ल जी के प्रतिमानों की अपर्याप्तता की उनकी बात भी वजनदार है, शुक्लजी द्वारा गैर साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करने की वाजपेयी जी की बात भी काफी कुछ समझ में आती है, विशेषकर उन सन्दर्भों में, जहाँ शुक्ल जी जरूरत से ज्यादा उन पर जोर देने लगते हैं और फलतः कविता को पूरा न्याय नहीं मिल पाता। मसलन तुलसी और सूर के प्रसंग में, जहाँ सूर बलात् तुलसी से हर स्तर पर छोटे सिद्ध हो जाते हैं। वाजपेयी जी ने इसे स्थूल नीतिवाद कहा है, जो समझ में आता है। वाजपेयी जी की आलोचना दृष्टि का पैनापन, उनकी ऊर्जा, नये युग की कविता के अन्तरंग की उनकी पहचान सचमुच आकर्षक है और स्पष्ट ही शुक्ल जी के बाद समीक्षा के क्षेत्र में उनके प्रामुख्य का साक्ष्य देती है। किन्तु एक दूसरा पक्ष भी है जिस पर भी हमें ध्यान देना है और चूंकि वाजपेयी जी ने शुक्ल जी की आलोचना की है, महज इसी नाते उनके बारे में कोई विपरीत धारणा नहीं बना लेना है।

जो बात हमने वाजपेयी जी के प्रेमचन्द विवेचन के बारे में कही है वही उनके आचार्य शुक्ल सम्बन्धी विवेचन पर भी लागू होती है। वाजपेयी जी द्विवेदी युग के उपरान्त सामने आने वाली छायावादी कविता का पक्ष लेते हुए एक उदीयमान समीक्षक के रूप में उस समय हमारे सामने आते हैं जबकि उस पर कठोर प्रहार हो रहे थे। छायावादी कविता पर यह प्रहार उन जीवनादर्शों और साहित्यादर्शों की जमीन से हो रहे थे जो द्विवेदी युग की जमीन थी और वाजपेयी जी ने शुक्ल जी और प्रेमचन्द दोनों को द्विवेदीयुगीन जीवनादर्शों और साहित्यादर्शों का सर्वोच्च प्रतिनिधि माना है। प्रसाद और शरद्चन्द्र जैसे कवि और कथाकारों को, जो उनके अनुसार जीवन के अन्तरंग तथा मानव मन के अन्तरंग के रचनाकार हैं, उन्होंने इस नाते प्रेमचन्द से बड़ा कहा कि प्रेमचन्द में भी उन्हें स्थूल सामाजिकता तथा बहिरंग चर्चा ही विशेष रूप से दिखाई पड़ी थी। शुक्ल जी का विरोध भी उन्होंने इसी नाते किया कि उनमें भी उन्हें भी द्विवेदी युग के ही स्थूल जीवनादर्श ही प्रमुख दिखाई पड़े। वस्तुतः प्रेमचन्द की भाँति शुक्ल जी के विरोध के मूल में भी उन एक

युवा समीक्षक की उन्माद-तरंगित क्रियाशीलता, युग की दो-दो प्रतिष्ठित तथा अजेय कही जाने वाली प्रतिभाओं को चुनौती देने वाली रोमानी साहसिकता और उसका अपना सुख भी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। एक ऊर्जस्वित आदर्शवाद भी उनमे है जो एकदम नाजायज भी नही है कि महाजनों की लीक पर न चलकर एक सर्वथा नई लीक बनाई जाए और उस पर चलते हुए शिष्यत्व को वह चरितार्थता दी जाए जो अरस्तु ने अपने गुरु प्लेटो की मान्यताओ को तार-तार करते हुए दी थी। वे कहते हैं—"कुछ लोग उनकी (शुक्ल जी) बातो को दोहराने मे ही उनका सच्चा शिष्यत्व समझते हैं। किन्तु प्रतिध्वनि कभी मूल ध्वनि की बराबरी नही कर सकती। उनका सच्चा शिष्यत्व तो है उनके किए हुए कार्य को आगे बढाने मे, जिस प्रकार स्वयं उन्होने पिछले किए हुए काम को आगे बढाया।"

वाजपेयी जी ने अपने इस मन्तव्य को अपनी आलोचना मे साकार किया। शुक्ल जी की कुछ सीमाओ पर पैनी निगाह डाली, उन्हे रेखांकित किया। यह उनका महत्त्व है, परन्तु अपने उमंग तरंगित मन के प्रवाह मे, नई लीकें बनाने के अपने जायज आशावाद मे, अन्तर्विरोधो के शिकार भी बने। उनका एक मन शुक्ल जी को अबाध स्वीकृति भी देता है, उसका दूसरा मन उन्हे द्विवेदी युग की सीमाओ मे ही बांधते हुए हिन्दी समीक्षा का बालारुण मात्र कहता है और यदि शुक्लजी सम्बन्धी 1941 वाले निबन्ध मे, जो कदाचित शुक्ल जी की मृत्यु के बाद लिखा गया है, शुक्ल जी की सच्ची काव्य मर्मज्ञता, उनके युगान्तरकारी महत्त्व का आख्यान करने वाली उनकी अन्य सारी प्रशस्तियो को, जो हमारे लिए तो एकदम जायज तथा सही हैं, वाजपेयी जी के सन्दर्भ मे, औपचारिक भी मान लिया जाए, किसी आचार्य की अपने गुरु के निधन पर दी गई श्रद्धांजलि, तो भी शुक्ल जी का जादू, उनकी विचार दृष्टि का जादू, उनके वास्तविक आचार्यत्व का जादू आचार्य वाजपेयी के सिर पर चढकर उनकी अगली पंक्तियो मे बोलता है। ठीक उसी

पर शुक्ल जी की विशेषता का आख्यान करता है, जिन बिन्दुओ पर उन्होने शुक्ल जी की सीमाएँ देखी थीं। टिप्पणियो की बात जाने दी जाए तो वाजपेयी जी की अपनी समीक्षा दृष्टि, उनके अपने समीक्षादर्श, उनकी अपनी परवर्ती कृतियो मे वही नही है जो उनकी पहली कृति 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं' शताब्दी 'पुस्तक मे है। वाजपेयी जी के ये समीक्षादर्श इस बात के गवाह हैं कि उनके निर्माण मे शुक्ल जी

वाजपेयी जी के चिन्तन मे होने वाला विकास, एक गुणात्मक विकास मानते हैं। स्वच्छन्दतावादी जमीन वाजपेयी जी छोड़ते नही हैं परन्तु अब उसमे उमंग-तरंगित मन का उत्साह न होकर क्रमश परिपक्व होने वाले विचारो का संयम तथा रोमानी आदर्शवाद के साथ जीवन के यथार्थ को, साहित्य के यथार्थ को, सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक नीतिमत्ता को, आवश्यक मर्यादावाद को और अंतरंग जीवन की समृद्धि के साथ-साथ बहिरंग जीवन के अनन्त रूपात्मक विस्तार को भी

समेटने और सहेजने का आग्रह है। वाजपेयी जी की चिन्ताधारा इस ज़मीन पर क्रमशः और भी गहरी और व्यापक होती गई है और अन्ततः वाजपेयी जी जहाँ विराम लेते हैं। वह आधुनिक युग के एक प्रगतिशील (रूढ़ अर्थ में नहीं) विचारक और काव्य चिन्तक के रूप में आचार्य शुक्ल की प्रगतिशील चिन्तन-परम्परा के उन्नायक के रूप में, उनके सच्चे उत्तराधिकारी के रूप में जाने और पहचाने जाते हैं। हम फिर दुहराएँगे कि वाजपेयी जी का मूल्यांकन उनकी समग्रता में ही किया जाना चाहिए, उनकी प्रारम्भिक कृति के आधार पर नहीं, क्योंकि उसके बीच से भी वाजपेयी जी की जो छवि सामने आती है, वह एक उर्जस्वित छवि है, अगली सम्भावनाओं से युक्त, किसी भी मायने में प्रतिगामी और रूढ़िबद्ध नहीं।

रहस्यवाद-सम्बन्धी अपने विवेचन में रहस्यवाद का समर्थन करते हुए भी वाजपेयी जी उसके बारे में पूरी तरह आश्वस्त नहीं जान पड़ते। इसी नाते वे रहस्यवाद और 'रहस्यवाद' में भेद करते हैं और असली तथा नकली रहस्यवाद की कोटियाँ बनाते हैं। प्रसाद, निराला आदि या सूफी साधक उन्हें असली रहस्यवाद मालूम पड़ते हैं जबकि महादेवी या मध्ययुग के अनेक साधक उससे हटे हुए। वे मध्ययुग में रहस्यवाद के नाम पर फैली विकृति की उन्हीं शब्दों में भर्त्सना करते हैं जिन शब्दों में और जिन बातों के आधार पर शुक्ल जी ने उसकी भर्त्सना की थी। वाजपेयी जी कहते हैं कि यह रहस्यवाद अर्थात् काव्य में यह रहस्यवाद बड़े-बड़े दुर्दिन देख चुका है। परन्तु फिर भी प्रसाद द्वारा प्रतिपादित और अभिव्यक्त रहस्यवाद का समर्थन करने के लिए वे उसकी अनेक भूमियाँ बताते हैं और कतिपय आयामों पर उसके औचित्य का प्रतिपादन करते हैं। बात फिर भी साफ नहीं होती है। किस बिन्दु पर रहस्यवाद असली रहता है और किस बिन्दु से उसका नकली होना प्रारम्भ हो जाता है, ये सब उलझी हुई बातें हैं और साफ नहीं हो पाती। वस्तुतः वाजपेयी जी का विवेकशील मन रहस्यवाद के साथ नहीं है, वह उसकी उन विरूप परिणतियों को भी जानता है जिनकी ओर शुक्ल जी ने इशारा किया है परन्तु चूंकि शुक्ल जी ने छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते हुए उसके माध्यम से छायावाद की आलोचना की अतएव वाजपेयी जी के लिए उसका समर्थन आवश्यक हुआ। दूसरे, जैसा कि हम कह चुके हैं, रहस्यवाद या रहस्यवृत्ति को अमान्य कर देने पर प्रसाद तथा निराला की कविता अपनी सम्पूर्णता में वाजपेयी जी द्वारा 'डिफेण्ड' नहीं की जा सकती थी, इस हेतु भी उन्हें रहस्यवाद के पक्ष का समर्थन करना पड़ा है। वैसे वे रहस्यानुभूति को अधिक तरजीह न देकर लोक जीवन के बीच, मानवीय अनुभूतियों के साहचर्य में ही कविता का विकास देखने के इच्छुक हैं, जैसा कि महादेवी के काव्य के मूल्यांकन को लेकर उनके द्वारा उठाए गए सवाल से लक्षित होता है। यदि वाजपेयी जी के रहस्यवाद के सम्बन्ध के सारे विचारों का जायज़ा लिया जाए तो कुछेक बिन्दुओं को छोड़कर वे मुख्यतः रहस्यवाद के समर्थक साबित नहीं होते और जहाँ वे रहस्यवाद का समर्थन भी करते हैं वहाँ उनके तर्क बुद्धिवादी ज़मीन पर खरे नहीं उतरते। यहाँ वाजपेयी जी की समीक्षा दृष्टि वस्तुनिष्ठ भी नहीं है, व्यक्तिगत लगाव को महत्त्व देती जान पड़ती है। और फिर रहस्यवाद को उसकी प्रारम्भिक जिज्ञासा की ज़मीन तक तो शुक्ल जी ने भी स्वीकार किया है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि रहस्यवाद के विषय को लेकर शुक्ल जी और प्रसाद जी में कोई सीधा विवाद भले न

उठा हो, परन्तु रहस्यवाद-सम्बन्धी अपने विवेचन में प्रसाद जी ने शुक्ल जी की मान्यताओं को लक्ष्य करके ही अपनी बातें कही हैं। प्रसाद स्पष्ट रूप से रहस्यवाद का समर्थन करते हैं जबकि शुक्ल जी उसे भारतीय काव्यपरम्परा से बाहर की चीज मानते हैं। शुक्ल जी तथा प्रसाद जी के बीच रहस्यवाद को लेकर हुए इस प्रच्छन्न विवाद में वाजपेयी जी ने प्रसाद के पक्ष से रहस्यवाद का समर्थन करने के लिए ही उसकी असली और नकली कोटियाँ बनाई हैं और प्रसाद के रहस्यवाद को असली रहस्यवाद कहा है। यह एक प्रकार की 'पालिमिक्स' है और 'पालिमिक्स' के तहत कही गई बातें सदा ही किसी भी पक्ष की मूलवर्ती बातें नहीं हुआ करती। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालते हुए कि वाजपेयी जी का रहस्यवाद का समर्थन उनकी आंशिक मूलवर्ती विचारधारा नहीं है, यह एक आंशिक समर्थन है, उसका अधिकांश रहस्यवाद का निषेध करता है, सामाजिक और वास्तविक जीवन स्रोत से ही कविता के जीवन रस पाने की हिमायत करता है और इस अर्थ में प्रगतिशील है। हम वाजपेयी जी की काव्य सम्बन्धी मान्यताओं पर दृष्टिपात करना चाहेंगे।

कविता तथा साहित्य पर वाजपेयी जी ने अपने दीर्घकालीन लेखन के क्रम में अनेक स्थलों पर विचार किया है। उन सारी बातों को समेटना तो सम्प्रति सम्भव नहीं है, परन्तु कविता या साहित्य के बारे में उनके मूलवर्ती विचार प्रायः सब जगह एक ही रहे हैं। 'नया साहित्य नए प्रश्न' शीर्षक अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में तथा उसके कुछेक महत्त्वपूर्ण निबन्धों में इस विषय पर उनकी मान्यता बहुत साफ होकर सामने आई है और उस पर वे प्रायः अटल रहे। उदाहरण के लिए वाजपेयी जी बहुत साफ तरीके से कहते हैं कि "साहित्य का स्रष्टा मनुष्य है, मनुष्य के लिए ही साहित्य की सृष्टि है। मानव-जीवन ही साहित्य का उपादान और विषय रहा है और रहेगा। मानव जीवन विकासशील वस्तु है इसलिए साहित्य भी विकासशील है। विकासशील मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति, यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है।" इस मोटी परिभाषा के बाद वे साहित्य रचना की बारीकियों में उतरते हैं और अंततः साहित्य को 'भावाश्रित रूप' की संज्ञा देते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य में कोई दूसरी वस्तुसत्ता रह ही नहीं सकती। रूप और वस्तु को वे अविच्छेद्य मानते हैं। साहित्य और जीवन का भी वे अविच्छेद्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि "जीवन का तत्त्व निकाल देने पर साहित्य में बच क्या जाएगा—मात्र जीवन-निरपेक्ष रस, कोरा अलंकार और शब्दाडंबर। कविता के लिए कविता, और कला के लिए कला। इससे बढ़कर भ्रामक बात और क्या होगी। कविता की परिभाषा वे इन शब्दों में देते हैं—"काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं।"

जाहिर है कि साहित्य या कविता की यह समझ स्वच्छन्दतावादी समझ है, परन्तु यह किसी कोण से भी साहित्य या कविता की प्रगतिशील समझ को क्षति नहीं पहुँचाती, उसकी मानवीयता का, उसकी भावसत्ता का आख्यान करती है तथा कोरे कलावाद या शब्दाडंबर का, निषेध करती है। वस्तुतः कविता के बारे में

शुक्ल जी की धारणा से यह धारणा भिन्न नहीं है। वाजपेयी जी पूरे जीवन कविता के इसी पक्ष पर दृढ़ रहे हैं। किसी स्तर पर उन्होंने कोरे कलावाद का, अनुभूति शून्य कविता का, मानव जीवन से निरपेक्ष कविता का, चमत्कारों पर टिकी कविता का या बेलबूटे या पच्चीकारी के रूप में पेश होने वाली कविता का समर्थन नहीं किया है। उल्टे उसकी दृढ़ भर्त्सना की है। रीतिवाद पर जो कठोर प्रहार छायावाद ने किया, वाजपेयी जी भी उसमें पूरी शिरकत रही है। रीतिवाद के खिलाफ वे उसी प्रखरता के साथ उठे हैं जिस प्रखरता से आचार्य शुक्ल जी और छायावाद के रचनाकार। यह रीतिवाद-विरोध, यह सामंती मानसिकता का तिरस्कार, आचार्य शुक्ल और वाजपेयी जी को एक करता है, वाजपेयी जी को शुक्ल जी का वास्तविक उत्तराधिकारी सिद्ध करता है, छायावादियों को शुक्ल जी की चिन्ताभूमि से जोड़ता है।

शुक्ल जी की परम्परा से वाजपेयी जी उस बिन्दु पर भी जुड़ते हैं जहां वे सांप्रदायिक कविता का विरोध करते हैं जिसका लक्ष्य किसी एक धर्म या सम्प्रदाय की शिक्षाओं का प्रचार होता है। कविता वाजपेयी जी के लिए सार्वजनीन है, किसी सम्प्रदाय की शिक्षाओं तक ही सीमित नहीं।

शुक्ल जी की परम्परा से वाजपेयी जी जिस एक अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु पर भी जुड़ते हैं वह उनका वादों, आन्दोलनों और भांति-भांति के कविता को बाहर रखने का आग्रह है। शुक्ल जी ने यह बात अपने इतिहास में कही है और वे इसके प्रतिपादक सदा से ही रहे हैं। वाजपेयी जी का वाद-विरोध वस्तुतः शुक्ल जी की ही देन है। परन्तु वाजपेयी जी दार्शनिक-राजनीतिक मतवादों से कविता को अलग रखने के कितने भी पक्षधर क्यों न हों, वे यह भी महसूस करते हैं कि आज की जिन्दगी में कविता का उनसे बचा रहना भी असम्भव है। इस बिन्दु पर वे सावधानी और सजगता की मांग करते हैं ताकि काव्य-विवेक को अनावश्यक क्षति से बचाया जा सके।

इस क्रम में वाजपेयी जी ने साहित्य को प्रभावित करने वाले अनेक मतवादों पर काफी कुछ टिप्पणियाँ की हैं, विशेषकर मार्क्सवाद और फ्रायडवाद पर। फ्रायडवाद में उनके विचारों की सगति किसी भी स्तर पर नहीं बैठ सकी है, परन्तु मार्क्सवाद के विचारों से सिद्धान्ततः सहमत न होते हुए भी वे उन्हें पूरी तरह नकार नहीं सके हैं। उसके बहुआयामी महत्व को उन्होंने स्वीकार किया है तथा साहित्य पर पड़े मार्क्सवादी प्रभाव को कुछ अंशों में अहेतुक मानते हुए अधिकतर उसका स्वागत किया है, उसमें संभावनाएं भी देखी हैं। प्रगतिशील आन्दोलन के साथ भी वे कुछ समय तक रहे हैं और उससे अलग होने के बाद भी उन्होंने प्रगतिशील चिन्तनधारा का अंध विरोध नहीं किया। उसके 'सकारात्मक' पक्षों को पूरी [illegible] की है। [illegible] साहित्य के सामाजिक आधार को

[illegible] ·रोवार या तो मार्क्सवाद समाजवाद प्रेरित यथार्थवादी साहित्य सृजन में रहा है, जो भारतीय जीवन के यथार्थ अनुभवों की जमीन पर समाजवादी चेतना से जुड़ा रहा है या फिर उनके समक्ष पश्चिम के पूंजीवादी देशों में जन्मे और पनपे दार्शनिक तथा साहित्यिक वादों के अनुकरण पर रचे गए साहित्य की बानगी आई है। फ्रायड के मनोविज्ञान

से प्रभावित रचनाधर्मिता से भी वे इस सारे अर्से मुखातिब रहे हैं। यही कारण है कि वाजपेयी जी की साहित्य-समीक्षा का अधिकांश उपर्युक्त विचारधाराओं और वादों की जमीन पर रची गई साहित्यिक कृतियों से ही सम्बन्ध रखता है। कविता के क्षेत्र में वे अपने समय की प्रगतिशील तथा प्रयोगवादी रचनाशीलता, जो बाद में नई कविता के रूप में सामने आई, से उलझते रहे हैं और कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिशील कथा साहित्य, जो सामाजिक या समाजवादी यथार्थ से अनुप्राणित होकर सामने आया तथा उन कथाकृतियों से जो फ्रायडीय मनोविज्ञान की जमीन पर यथार्थ के दूसरे रूपों को लेकर सामने आईं, उनकी विवेचना के केन्द्र में रही है। नाना प्रकार की विचारधाराओं और वादों के माहौल में तथा यथार्थ जीवन को नाना आयामों में प्रस्तुत करने वाली रचनाशीलता के इस परिदृश्य में वाजपेयी जी ने स्पष्टतः व्यक्तिवादी, पतनशील तथा क्षयी विचारधाराओं और उनसे प्रभावित रचना-शीलता की तुलना में स्वस्थ सामाजिक चेतना से युक्त सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने वाली रचनाशीलता का खुला समर्थन किया है। यह वाजपेयी जी के चिन्तन का, उनके समीक्षा-कर्म का सबसे जाग्रत प्रगतिशील सदर्भ है। फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रेरित, व्यक्ति मन की अंधी गलियों में भटककर यथार्थ के विरूप कोनों को उद्घाटित करने वाली, सामाजिक जीवन के मुख्य प्रवाह से कटी, जीवन के क्षय को सामने लाने वाली रचनाशीलता का, व्यक्तिवादी आग्रहों पर आधारित असामाजिक रचनाओं का वाजपेयी जी ने आजीवन दृढ विरोध किया है, उनका सम्बन्ध जैनेन्द्र से रहा हो, अज्ञेय से रहा हो, अथवा प्रयोगवाद तथा नई कविता के हामियों से रहा हो। अज्ञेय और जैनेन्द्र की जीवन दृष्टि तथा कला-रचना से वे किसी स्तर पर अपनी सगति नहीं बिठा सके हैं, तथा प्रयोगवाद और नई कविता जैसी साम्राज्यवादी देशों की कला-चिन्ता से प्रेरित रचनाशीलता से वे एक पल भी समझौता नहीं कर सके हैं। यहाँ वाजपेयी जी का दृढ गैर समझौता-वादी समीक्षक-रूप उसी गरिमा के साथ सामने आया है जिस गरिमा के साथ आचार्य शुक्ल का समीक्षक अपने समय की पतनशील चिन्ताओं के विरोध में उभरा था। असामाजिक रुझानों वाली, पश्चिम की पतनशील जीवन दृष्टि तथा कला दृष्टि से वाजपेयी जी एक योद्धा की तरह जूझे और जूझते रहे हैं। प्रयोगवादी रचनाशीलता को उन्होंने उपहास का विषय बना दिया, उसकी रचना-भूमि और मनोभूमि का, उसके प्रतिक्रियावादी रूप का जिस दृढता से उन्होंने विरोध किया, प्रगतिशील समीक्षकों से इतर इस मायने में वे अकेले उदाहरण हैं। यह वाजपेयी जी की साम्राज्यवाद-विरोधी, स्वस्थ सामाजिक चेतना है जो उनके इस महत्त्वपूर्ण समीक्षा-कर्म की मुख्य प्रेरणा रही है। वाजपेयी के इस अवदान को भूलना, उनकी समीक्षा तथा जीवन दृष्टि के इस प्रगतिशील सदर्भ को नोटिस न लेना कृतघ्नता कही जाएगी और हम जानते हैं कि हिन्दी की विचारवान मनीषा कृतघ्न नहीं है। उसने वाजपेयी जी की इस देन को सहेजा और संरक्षित किया है।

इसके विपरीत भारतीय जीवन के यथार्थ को प्रगतिशील समाजवादी चेतना से युक्त कर देखने और प्रस्तुत करने वाली रचनाशीलता अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद उनके द्वारा समर्थित हुई है, समर्थित ही नहीं हुई, प्रेरित भी हुई है। मार्क्स-वाद-समाजवाद प्रेरित समाजवादी यथार्थ और मनोविज्ञान प्रेरित अतश्चेतनावादी यथार्थवाद पर यों तो वाजपेयी जी ने अनेक स्थलों पर लिखा है परन्तु आधुनिक

काव्य के अंतरंग विषय पर लिखते हुए, इनके बारे में उनका यह अभिमत द्रष्टव्य है—वे लिखते हैं —"समाजवादी यथार्थवाद की मूल वस्तु है वर्ग-संघर्ष। शोषित दीनहीनों की वर्ग चेतना का जागरण और शक्ति संचय उस नए जमाने की कुंजी है जब कोई शोषक न रहेगा, सब समान हो जाएंगे, सब मिलकर परिश्रम करेंगे और सब मिलकर उपभोग करेंगे। इस यथार्थवाद में दो तत्त्व हैं जो वास्तव में गत्यात्मक जीवन के दो पक्ष हैं। एक है "वह असह्य और नग्न वास्तविकता जो परिस्थिति बनकर हमें घेरे हुए है और दूसरा है एक स्वप्न जो साम्यवाद का साध्य है। यह एक वास्तविक जीवन दृष्टि है जिसमें तात्कालिक यथार्थ और उसे गति और दिशा प्रदान करने वाला आकांक्षित भवितव्य दोनों का द्वन्द्वात्मक संयोग है। साथ ही इस दृष्टिकोण की भूमि भी पूरी तरह सामाजिक है। इस मत के अनुसार काव्य में इसी गतिशील सहयोग पर आश्रित विकासमान जीवन को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।" यहां तक वाजपेयी जी सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं और उससे पूरी तरह अभिन्न होते हैं। आगे चलकर जब इसके व्यावहारिक रूप की बात की जाती है, वे राजनीतिक पूर्वाग्रह तथा कट्टरता का उल्लेख करते हैं जिसके चलते उनके अनुसार यह स्वस्थ तथा प्राणवान धारणा अपनी आत्मा खो बैठती है। किन्तु ये व्यवहार की सीमाएं हैं जो बना और मिटा करती हैं। देखने की बात मूलवर्ती विचार पर किसी की सहमति या असहमति है और वाजपेयी जी वैचारिक धरातल पर उसे पूरी स्वीकृति देते हैं। वे कहते हैं, "इस विशिष्ट वस्तु-वादी धारणा में से मानवात्मा या चेतना को भौतिक द्रव्य का अग्रिम विकास बताने पर भी यह तथ्य बच रहता है कि मानवात्मा विकासशील है। एंगेल्स ने इस आधार पर मानव समाज की चरम-परिणति इस बात में देखी है कि सामाजिक सहयोग के आधार पर मनुष्य अपनी समस्त परिस्थितियों का सचेतन नियंत्रण करे, वह निसर्ग की दया पर निर्भर न रहे या आकस्मिक संयोग और घटनाएं ही उसका भाग्य निर्णय न करें, किन्तु अपने भाग्य का नियंता मनुष्य स्वयं बने। और ऐसा वह व्यक्तिगत रूप से करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। यह परिणति वर्गहीन समाज के सहयोग की भूमि पर ही संभव है। यह एक दृढ़ आशा का स्वर है। इसमें मानवता की चिर-विजयिनी आत्मा का पूर्ण विश्वास प्रदीप्त होता है।"

समूची हिन्दी समीक्षा में कदाचित ही किसी गैर-मार्क्सवादी आलोचक ने मार्क्सवाद को मूलवर्ती विचारधारा और उससे प्रेरित यथार्थवादी कला को इतनी खुली और आस्था से पूर्ण स्वीकृति प्रदान की हो। रचनाशीलता में सीमाएं हो सकती हैं, विचार को व्यवहार के स्तर पर लाने में गलती हो सकती है परन्तु मूलवर्ती विचार पर यह निष्कंप आस्था, जैसा कि हमने कहा, विरल है, और इसी नाते हम वाजपेयी जी को मूलतः हिन्दी के प्रगतिशील काव्यविवेचकों की अगली पंक्ति में रखते हैं। उनकी स्वच्छन्दतावादी आस्थाएँ उस परिणति पर पहुँचती हैं जिसे लक्ष्य करके ही मार्क्स ने शैली के बारे में कहा था कि यदि वह जीवित रहता तो समाजवाद की हिरावल में होता।

इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक या अंतश्चेतनावादी यथार्थवाद पर वाजपेयी जी कहते हैं—"अंतश्चेतनावादी यथार्थ एक अनूठा यथार्थ है। उसमें समाज और यहाँ तक कि अखिल विश्व की सार्थकता का पर्यवसान व्यक्ति की तृष्णा शांत करने में

ही हो जाता है।'''निष्कर्षत' वे कहते हैं यह पराजय का स्वर है जिसमें हमारे आँसू मनुष्य के लिए नही माँगे जाते, किन्तु उसके किसी विकृत और कुत्सित टुकडे के लिए माँगे जाते हैं।" आगे प्रयोगवादियो के यथार्थ पर उनका कहना है कि "प्रयोगवादियो का यथार्थ केवल अन्वेषण है। इस अन्वेषण की भी कोई निश्चित दिशा नही है। न उसके पीछे कुछ उद्देश्य ही है। जिस प्रकार निहिलिस्ट समस्त मान्यताओ को अस्वीकार करने के बाद अपना पथ खोजना चाहता है और यह जानने के पूर्व ही कि उसे पथ किस मजिल के लिए चाहिए उसके पूर्व के समस्त विश्वासो को अस्वीकार कर देता है उसी प्रकार ये प्रयोगवादी हैं। यह जानना कठिन है कि इनकी जीवन दृष्टि क्या है।"

आचार्य वाजपेयी पर प्रतिगामी दृष्टि का आरोप लगाते वाले, उन्हें प्रतिक्रियावाद का पोषक कहने वाले उनके इन विचारो की रोशनी मे अपनी गलती सुधार सकते हैं। जरूरत मात्र सही नीयत से चीजो को देखने-परखने की है।

बात प्रयोगवाद की चल रही थी। हम बता चुके हैं कि प्रयोगवाद पर सबसे कठोर आक्रमण वाजपेयी जी ने ही किया और उसे इस हद तक 'एक्सपोज' किया कि उसे उपहासास्पद बना दिया। प्रयोगवाद से उनकी मुख्य आपत्ति यही रही है कि यह एक नितात व्यक्तिवादी तथा असामाजिक जमीन पर एक विदेशी कलम के रूप मे लगाया और पनपाया गया है। उन्होने लिखा—"प्रयोगवाद हिन्दी मे बैठे-ठाले का धधा बनकर आया था।'''क्रमशः यह भाषा सम्बन्धी बीहड प्रयोगो का अड्डा बन गया। जिससे पाठको को भी थोडी बहुत दिलचस्पी होने लगी। आगे चलकर इसमे टी० एस० इलियट की शैली मे आधुनिक जीवन के खोखलेपन का परिचय कराया जाने लगा। यह वाद हिन्दी मे आरम्भ से ही मध्य वर्ग के हार खाए और फिर शौकीन तबियत वाले व्यक्तियो के हाथ मे रहा है। पिछले कुछ दिनो से इसमे इन निष्क्रिय व्यक्तियो की निराशा और गिरा हुआ मन भी प्रतिबिंबित होने लगा है। आश्चर्य नही कि यदि निकट भविष्य मे यह वही रगत धारण करे जो पश्चिम मे अति यथार्थवादियो की रचना ने धारण किया है।"

आचार्य वाजपेयी ने इन प्रयोगवादियो को सलाह दी है कि "नवीनता लाइए पर अपनी विरासत मे मुह न मोडिए। उत्तराधिकार न छोडिए। अन्वेषण के लिए अन्वेषण ही नहीं जीवन सम्बन्धी धारणा और साधना के लिए प्रचुर स्थान है। उस ओर आगे बढिए। अपने प्रति, अपनी अनुभूतियो के प्रति, काव्य के प्रति और समय और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को भूलकर प्रयोग नही किए जा सकते। उन प्रयोगो का अर्थ होगा शून्य मे दीवाल खड़ी करना।"

साहित्य सम्बन्धी अपनी मूलवर्ती मान्यता को वे इन शब्दो मे प्रकट करते हैं—"वह सारा साहित्य जो व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओ, असाधारण परिस्थितियो, एकातिक मनोविज्ञान और सामाजिक निष्क्रियता और उद्देश्य हीनता का निरूपक हो चाहे वह साहित्यिक दृष्टि से कितना ही प्रशस्त और ललित क्यो न हो, मेरी अपनी रुचि के अनुकूल नहीं है। वह परिपूर्ण कला जो अगति या शून्य का चित्रण करती है हमे उतनी नही भाती जितनी वह अपूर्ण कला जो जीवन का जाग्रत कलरव हमारे कानो को सुनाती है। यह मेरी कमजोरी हो सकती है, पर स्थिति कुछ ऐसी ही है।"

आचार्य वाजपेयी का समूचा समीक्षा-कर्म एक जागरूक चिन्तक की मेधावी

प्रतिभा तथा प्रगतिशील चिन्ता का प्रतिफल है। उनके चिन्तन की मूलवर्ती जमीन वृहत्त सामाजिक तथा मानवीय सरोकारों की जमीन है और इसी जमीन से उन्होंने साहित्य, कविता या कला की विवेचना की है। उनका यह दृढ़ प्रगतिशील रुख और उनके ये स्वस्थ सामाजिक तथा साहित्यिक सरोकार किसी भी प्रकार के समझौतावाद को सदैव अमान्य करते रहे हैं। उनका स्वाभिमान उन्हें धन्नासेठों और सत्ताधीशों के दरवाजे पर कानिश बजाने से सदैव विरक्त करता रहा है और इसी का परिणाम है कि सत्ता ने उन्हें कभी विश्वस्त और मान्य नहीं माना। वाजपेयी जी को इसका कभी कोई मलाल नहीं रहा। साहित्य तथा कविता के प्रगतिशील सरोकारों का उनके द्वारा होने वाला समर्थन, उनकी अंतरंग छवि तथा बहिरंग व्याप्ति की उनकी सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी विवेचना, उसकी सौन्दर्य सत्ता का उनका समर्थ उद्घाटन, उसकी जीवन तथा समाज-सापेक्षता का उनका आस्थावान कथन, साहित्य निर्माण के मूल में निहित सामंती-रीतिवादी मानसिकता का उनका प्रत्याख्यान, उनका रहस्यवाद-विरोध, उनकी साम्राज्यवाद-भर्त्सना तथा पश्चिम की पतनशील चिन्ताओं का पर्दाफाश करते हुए प्रगतिशील समाजवाद दृष्टिकोण की उनकी हिमायत, वे बातें हैं जो वाजपेयी जी को आधुनिक समीक्षा के एक कृती व्यक्ति, आचार्य शुक्ल की स्वस्थ और प्रगतिशील परम्परा का सच्चा उत्तराधिकारी बनाती हैं। इस तथ्य को नजरंदाज करने के मायने एक जाग्रत सत्य को अस्वीकार करना होगा। हमें विश्वास है कि वाजपेयी जी का स्थान आचार्य शुक्ल के बाद की पहली पंक्ति के प्रथम व्यक्ति के रूप में बरकरार रहेगा। यह समय द्वारा अंकित सच्चाई है और इस नाते अमिट है।

□□□